श्रीः ।

अथ द्वितीयोऽध्यायः ।

भरतस्य वचः श्रुत्वा पप्रच्छुर्मुनयस्ततः ।
भगवन् श्रोतुमिच्छामो यजनं रङ्गसंश्रयम् ॥१॥

अभिनवभारती

संसारनाट्यजननधातृबीजलताजुषीम् ।
जलमूर्तिं शिवां पत्युः सरसां पर्युपास्महे ॥१॥

वृत्तेऽध्याये यथातत्त्वमिति (१-५) वचनवशात् भरतमुनिर्यजनादेः पाठ्यादि-

मधुसूदनी

नाट्यमण्डपलक्ष्मादि द्वितीयेऽत्र प्रकीर्तितम् ।
मायं मायं विवृणुते भावसाररहस्यतः ॥

अथ द्वितीयाध्यायं व्याख्यास्यन् अभिनवगुप्ताचार्यः षट् त्रिंशत्तत्त्वेषु द्वितीयं जलत्तत्त्वं शिवाभिन्नत्वेन पर्युपास्ते संसारेति । संसाररूपं यन्नाट्यम् । अत एव भगवान् जगन्नाटकसूत्रधार इति विद्वद्भिर्गीयते । तस्य जनने धातृ उत्पत्तौ आधार भूतं बीजं शक्तिरूपं मायाख्यं तस्य लताजुषीं विस्तारकारिणीम् । बीजं लतारूपतां गच्छति जलसेचनेन । नाट्यबीजमपि विस्तारमाप्नोति सरसशिवरूपनटप्रभावेण । सरसाम् आर्द्राम् सहृदयां रसेन सहितां-शिवां कल्याणरूपां शिवानायिकां पत्युः परमेश्वरस्य जलमूर्तिं वयं पर्युपास्यहे धीमहि ।

वृत्ते गते प्रथमाध्याये अपूजयित्वा रंगं तु (१२२-१२३) यः पूजां न करिष्यति प्राप्नोत्यपचयं तु सः (११५) यस्तु पूजां करिष्यति स लप्स्यते शुभानर्थान् (१२६)

बालक्रीड़ा

(मूल) भरत के वाक्य को सुनने के बाद मुनियों ने कहा कि भगवन् ? रंग का यजन कैसे होता है हम लोग सुनना चाहते हैं ।१।

नाट्य मण्डपलक्ष्म अरु रंगादिक बहु भांति ।
शोध किये, उनकी करूं भाषा विविध सुपाँति ॥

संसार रूपी नाट्य की उत्पत्ति में आधार भूत बीज को लता रूप देने वाली भगवान् अम्बिका पति की जल मूर्ति की उपासना करते हैं । जो मूर्ति सरस है आर्द्र है तथा सहृदय है रसिक है तथा शिव है कल्याणदायी है ।

प्रथम अध्याय के अन्त में अपूजयित्वा रंगं तु (१२२-१२३) यः पूजां न करिष्यति

अभिनवभारती

वदन्तरङ्गतां पश्यन्परमार्थनिर्णये न कुर्यात्का कथा तु मण्डपलक्षणं स्यात्। अत एव मुनिः 'गानं रङ्गश्च संग्रहः' (६-१०) इति रङ्गं सर्वं पश्चाद्वक्ष्यति। तस्मात्कदाचिदे एतदित्याशङ्कमाना (नाना) 'मुनयः पप्रच्छुः' इति परमात्मानं परिकल्प्य मुनिराह—भरतस्य वच इति। ब्रह्मेव कविः, शक्र इव प्रयोजयिता, भरत इव नाट्याचार्यः, कोहलादय इव नटाः, अप्सरस इव सुकुमारोपकरणं, स्वातिरिवानद्धवित्, नारद इवगीतज्ञः, सुरक्षितो मण्डपः, इन्द्रोत्सव सदृशः प्रयोगकालः, प्रशान्तरागद्वेषादिकाः सामाजिकाः, देवतापूजनपूर्वकः प्रयोग इत्येवं सङ्ग्रहेण पूर्वाध्यायनिरूपितमर्थमवधार्येत्यर्थः। यजनमिति रङ्गपूजां कुरुष्व' इति वृत्तेऽध्याये निरूपितमिति सङ्गतिः।

मधुसूदनी

रंगपूजां कुरुष्वेति (१२७) इत्यादि स्तावक-निन्दकवचनैः यजनादेरन्तरंगतां पश्यन् अपि भरत मुनिः, यथातत्वमिति (१-५) वचनात् पाठ्याद्यंगवत् परमार्थनिर्णये नाट्य-तत्त्वविचारसमये यजनादेरन्तरंगतां न कुर्यात्। तर्हि यजनादेः का कथा स्यात्। तु किन्तु यजनादेः यजनादिसम्बन्धिनः यजनीयस्य नाट्यमण्डपस्य लक्षणं कथनीयं स्यात्। तदेतदुच्यते समनन्तरमेव

इहादिर्नाट्य योगस्य नाट्यमण्डप एव हि।
तस्मात्तस्यैव तावत्त्वं लक्षणं वक्तुमर्हसि ।२।२
"लक्षणं पूजनं चैव श्रूयतां नाट्य वेश्मनः" ।२।४। इति।

अत एव मुनिः ज्ञानं रंगश्च संग्रह (६-१०) इत्यत्र संग्रहे निर्देक्ष्यमाणं रंगं सर्वेभ्यः पश्चाद् वक्ष्यति। तस्मात् कदा कस्मिन् समये एतत् यजनं स्यादित्याशंकमाना मुनयः कं पप्रच्छुरिति परमात्मानं परिकल्प्य इत्यन्वयः।

बालक्रीड़ा

प्राप्तोत्यपचयं तु सः (२२५) इत्यादि निन्दा वाक्यों तथा यस्तु पूजां करिष्यति स लप्स्यते शुभानर्थान् (१२६) इत्यादि स्तावक वाक्यों से रंगपूजां कुरुष्वेति यजन की अन्तरंगता को देखता हुआ भी मुनि "यथा तत्त्वम्" (१-५) इस वचन स नाट्य तत्त्व के निर्णय करने के समय पाठ्यादि अंगों की तरह यजन की अन्तरंगता को नहीं करेगा तब यजनादि की क्या कथा हो सकती है। किन्तु यजनसम्बन्धी अर्थात् यजनीय नाट्य मण्डप के लक्षण को कहा जा सकता है। इसी लिए मुनि "गानं रगंश्च संग्रह" इस संग्रह में सबके पीछे रंग को कहेंगे। अतः कब इसको कहेंगे ऐसी शंका करने वाले मुनियों ने पूछा। इसलिए मुनि भरत परमेश्वर की कल्पना करके कहते हैं कि भरत के वचन को। इति। ब्रह्मा के सदृश कवि, इन्द्र की तरह अभिनय कराने वाला, भरत जैसा नाट्याचार्य प्रयोक्ता, कोहलादि के समान नट, अप्सराओं की भांति सुकुमार उपकरण, स्वाति की तरह वाद्य वेत्ता, नारद के जैसा गीतज्ञ, सुरक्षित मण्डप, इन्द्रोत्सव के सदृश प्रयोग का समय, राग, द्वेष ईर्ष्या एवं प्रमाद रहित सामाजिक और देवताओं की पूजन करके अभिनय सम्पादन इस प्रकार संग्रह रूप में पूर्व अध्याय में कहे हुए अर्थों का निश्चय करके पूछा कि रंग सम्बन्धी यजन को सुनना चाहते हैं। जिसको "रंग-

अथ वा याः क्रियास्तत्र लक्षणं यच्च पूजनम् ।
भविष्यद्भिर्नरैः कार्यं कथं तन्नाट्यवेश्मनि ॥२॥

अभिनवभारती

यजनविषये मण्डपस्य क्रियां विना न निष्पत्तिरिति प्रथमं क्रियाप्रश्नस्तेषां विस्मृतोऽपि झटिति स्मृतिं गत इत्यभिप्रायेण दर्शयति—अथ वेति। पूर्वप्रश्नार्थोपमर्दनाय। अत एव पूजनमिति पुनर्वचनम्। क्रिया कर्तव्यता। लक्षणं सन्निवेशपरिमाणादि। अतीतेषूपदेशो व्यर्थ इति भविष्यद्भिरित्युक्तम्। देवानां मनसा सम्पत्तेः नरैरिति। ननु लक्षणं किं कार्यम्। लक्ष्यत इति लक्षणं सन्निवेश इत्यदोषः। अथ वा भाविभिर्यत्कार्यं नाट्यवेश्म तत्र यत्क्रियालक्षणं पूजनं तत्कथमिति सम्बन्धः। (१-२)

पूर्वकृते प्रश्नपञ्चके निर्णयं कृत्वेदं प्रश्नान्तरं निर्णयेदित्याशङ्कमाना मुनयः

मधुसूदनी

यजनविषये। मण्डपस्य क्रियां निर्माणं विना यजनादेर्निष्पत्तिर्नेत्यन्वयः १।२। पूर्वं प्रथमाध्याये, कृते

नाट्यवेदः कथं ब्रह्मन्नुत्पन्नः १ कस्य वा कृते २
कत्यंगः ३ किं प्रमाणश्च ४ प्रयोगश्चास्य कीदृशः ५

बालक्रीड़ा

(मूल) अथवा आगे होने वाली संतति को वहाँ नाट्य मण्डप में जो-जो या जैसी-जैसी क्रियायें करनी चाहिए। जो पूजन करना चाहिए वह कैसे करना चाहिए।२।

पूजा को करो" इस शब्द से गत अध्याय में कहा है। यह अध्याय प्रारम्भ करने की संगति है।

यजन के विषय में यह सिद्ध है कि मण्डप के निर्माण के विना यजन की निष्पत्ति नहीं हो सकती है। इसलिए पहले क्रिया के विषय में पूछा जिसको वे लोग भूल गये थे। किन्तु झटिति याद आ गया। इस अभिप्राय से दिखाते हैं कि अथवा। अथवा यह शब्द पहले प्रश्न को दबाने के लिए है अर्थात् इस अंश को बाद में भी कह सकते हैं। इसलिए पहले पूछे हुए पूजन को पुनः दुहराया है। पूजन की। क्रिया इतिकर्त्तव्यतायें। लक्षण, संनिवेश एवं परिमाण आदि। अतीत काल के लोगों को उपदेश देना व्यर्थ है अतः आगे होने वाले कहा। देवताओं की संम्पत्ति मन से ही हो जाती है अतः नरैः यह कहा ! प्रश्न—यहाँ (कार्य) "करना चाहिए" लिखा है।

तब क्या ? लक्षण कार्य है। उत्तर। लखा जाय देखा जाय उसे लक्षण कहते हैं अतः लक्षण पदार्थ है सन्निवेश स्थान। भावी लोगों के द्वारा कार्य कर्तव्य जो नाट्यवेश्म है उसमें जो क्रिया याने पूजन है उसे कैसे किया जाय। यह अन्वय है।१-२।

पहले अध्याय में किए हुए पांच प्रश्नों नाट्यवेद कैसे उत्पन्न हुआ। १ इसके

इहादिर्नाट्ययोगस्य नाट्यमण्डप एव हि ।
तस्मात्तस्यैव तावत्त्वं लक्षणं वक्तुमर्हसि ॥३॥

तेषां तु वचनं श्रुत्वा मुनीनां भरतोऽब्रवीत् ।
लक्षणं पूजनं चैव श्रूयतां नाट्यवेश्मनः ॥४॥

अभिनवभारती

पुनराहुरिहादिरिति । नाट्यस्य योग उत्पत्तिः । तावदित्यनेन पूर्वप्रश्नितस्यात्याग उक्तः । इतिकर्तव्यतायाः तदङ्गत्वात् । यजनस्य च तन्निष्पत्यनन्तरत्वात् । एवकारो लक्षणशब्दानन्तरम् ॥३॥

तेषामिति । अन्यथा तु न ब्रूयादेवोक्ताद्धेतोः । अनेन श्लोकेन लक्षणपूजनज्ञानं देवानामप्युपयोगि । सङ्कल्पितस्यापि निर्माणस्य ज्ञानापेक्षित्वादित्युक्तम् । अत एवात्र क्रियेति नोक्तम् । (४)

मधुसूदनी

इत्यात्मकप्रश्नानां पञ्चके । इति कर्त्तव्यतायाः क्रियायाः तदंगत्वात् नाट्यमण्डपांगत्वात् । तन्निष्पत्यन्तरत्वात् नाट्यमण्डपनिर्माणोत्तरत्वात् । एवकारः तस्यैवेत्यत्रत्यः । लक्षणशब्दानन्तरम् कर्त्तव्यस्तेन लक्षणमेव स्वरूपमेव । ३–४ ।

बालक्रीड़ा

(मूल) यहाँ नाट्य प्रयोग की उत्पत्ति का आदि अर्थात् कारण नाट्य मण्डप ही है । अतः उसी का लक्षण अर्थात् सन्निवेश प्रकार कहिए ।३।

(मूल) मुनियों के वचन को सुनकर भरत बोले कि नाट्यवेश्म का लक्षण और पूजन सुनिये ।४।

अध्ययनाध्यापन का अधिकारी कौन २ इसके कितने अंग है ३ अंगों के विषय में प्रमाण क्या है ४ तथा नाट्यवेद का प्रमाण क्या है और इसका प्रयोग कैसे किया जाय ५ । का निर्णय करके इस प्रश्नान्तर अथवा जो क्रियायें हैं, उनके जो लक्षण है और पूजन है उनको कैसे करना चाहिए का निर्णय करियेगा क्या; इसकी आशंका करके मुनि लोग फिर कहते हैं कि यहां आदि । नाट्य का योग याने उत्पत्ति । तावत् इससे पूर्व प्रश्नित का परित्याग नहीं किया है यह कहा । तस्यैव पद का एवकार लक्षणशब्द के बाद योजनीय है । इति कर्त्तव्यता नाट्य मण्डप का अंग है । और यजन भी नाट्यमण्डप के निर्माण के बाद होगा ॥३॥

तेषामिति । उनके । अन्यथा होता तो उक्त हेतु से कहते ही नहीं । इस श्लोक से यह सूचित किया कि लक्षण एवं पूजन का ज्ञान देवताओं के लिए भी उपयोगी है । क्योंकि संकल्पित वस्तु का निर्माण भी ज्ञानसापेक्ष है । इसी लिए क्रिया को नहीं कहा लक्षण एवं पूजन को ही कहा ॥४॥

दिव्यानां मानसी सृष्टिर्गृहेषूपवनेषु च ।
(यत्ना भावाभिनिर्वर्त्याः सर्वे भावास्तु मानुषाः ।) प्रक्षिप्त
नराणां यत्नतः कार्या लक्षणाभिहिता क्रिया ॥५॥
श्रूयतां तद्यथा यत्र कर्तव्यो नाट्यमण्डपः ।
तस्य वास्तु च पूजा च यथा योज्या प्रयत्नतः ॥६॥

अभिनवभारती

ननु किं क्रिया नैवोच्यत इत्याह—दिव्यानामिति । श्रूयतामित्यनुवर्तते । नराणां कार्या क्रिया इतिकर्तव्यता च श्रूयताम् । चकाराल्लक्षणपूजने । शास्त्रेणोक्ता । नराणामेव कस्मादित्याह—दिव्यानामिति । सृज्यमानत्वेन कर्मणोऽपि विषयत्वमेव यत्र जन्मक्रमनियतप्ररोहकुसुमफलबहुलविचित्रतरुलतास्थलीसरोवराक्रीडमयान्युपवनानि मानसानि, तत्र गृहे का सम्भावनेति ।(५)

श्रूयतामिति । तदिति । यतो नराणां यत्नतः कार्यताप्रकारः । यत्रेति देशकालौ । वास्त्विति गृहभूमिगतं परिमाणमिह मन्तव्यम् । पूजा लक्षणोक्तेत्युक्तम । (६)

मधुसूदनी

कार्यताप्रकारः इतिकर्त्तव्यता शैली । ५–६ ।

बालक्रीड़ा

(मूल) देवताओं के गृह या उपवन के निर्माण के विषय में कुछ नहीं कहना है । क्योंकि दैवी सृष्टि सब मानसी होती है । अतः मनुष्यों के गृह विषयक एवं उपवन विषयक लक्षण निर्माण के सम्बन्ध में कही हुई क्रियाएँ इति कर्तव्यताएँ उनके भावों के अनुसार करनी चाहिए । क्योंकि सभी भाव मानुष हैं ।५।

(मूल) उन क्रियाओं को सुनिये । जहाँ जैसा नाट्य मण्डप बनाना चाहिए । उसकी वास्तु यानी निर्माण और पूजा प्रयत्न पूर्वक उचित करनी चाहिए ।६।

प्रश्न—क्यों क्रिया को नहीं कहते हैं । इसके उत्तर में दिव्यपुरुषों के इति । सुनिये यह पद पहले से चला आ रहा है । मनुष्यों के लिए करणीय इतिकर्तव्यता को सुनिये । चकार से लक्षण और पूजन को । शास्त्र ने मनुष्यों के लिए ही क्रिया क्यों कही इसका उत्तर देते हैं कि दिव्यों की । सृज्यमान हैं निर्माण करना चाहिए इसलिए कर्म भी सृष्टि के विषय हैं । जिन देवताओं के क्रीडा के साधन उपवन भी मानस हैं । जहाँ जब क्रीडा की इच्छा हुई कि उद्यान बन गये । जिन उपवनों में पहले अंकुर, पीछे कुसुम, बाद में फल इस तरह नियम क्रम से पैदा होनेवाले अंकुर, कुसुम एवं फलों से बहुल परिपूर्ण, विचित्र तरु एवं लताओं से युक्त स्थली और सरोवर हैं । वहां गृह के विषय में निर्माण क्रिया की क्या सम्भावना है ।५।

सुनिये ! उसको ! क्योंकि मानवों को कर्त्तव्यता की शैली प्रकार यत्न पूर्वक जानना

द्वितोऽध्यायः

इह प्रेक्षागृहं दृष्ट्वा धीमता विश्वकर्मणा ।
त्रिविधः सन्निवेशश्च शास्त्रतः परिकल्पितः ॥७॥
विकृष्टश्चतुरश्रश्च त्र्यश्रश्चैव तु मण्डपः ।
तेषां त्रीणि प्रमाणानि ज्येष्ठं मध्यं तथाऽवरम् ॥८॥

अभिनवभारती

तत्र किं तल्लक्षणमित्याह-इह प्रेक्षागृहमिति । इह नाट्यमण्डपे । सन्निवेशः । चशब्दात्प्रमाणमेतत् । विश्वकर्मणा परिकल्पितः । किं स्वबुद्धया । न । अपि तु शास्त्रतः प्रेक्षागृहं विचार्य । शक्तश्चासौ विचार इत्याह—धीमतेति । ज्ञायते । (७)

विकृष्टश्चेति । विभागेन कृष्टो दीर्घो न तु चतसृषु दिक्षु साम्येन । तिस्रोऽश्रयो यस्य त्र्यश्रि तदस्मिन्निति मत्वर्थीयोऽच् । एतान्येव त्रीणि ज्येष्ठादीनीति केचित् । अन्ये तु प्रत्येकं त्रित्वमिति नवैतेऽत्र भेदा इत्याहुः । एतदेव युक्तम् । (८)

बालक्रीड़ा

(मूल) धीमान् विश्वकर्मा ने शास्त्र को देखकर इस प्रकार नाट्य मण्डप के विषय में तीन प्रकार के सन्निवेश की कल्पना की ।

(लोचन) यहाँ शास्त्रतः पद सार्वविभक्तिकस्तसिः के अनुसार द्वितीयान्त है उसका अन्वय दृष्ट्वा से करना चाहिए । शास्त्रं दृष्ट्वा ऐसा अन्वय होना पाठक्रमादर्थक्रमो बलवान् के अनुसार उचित है ।७।

(मूल) विकृष्ट, चतुरस्र और त्र्यस्र ये तीन प्रकार के मण्डप होते हैं । इनके ज्येष्ठ मध्यम और अधम ये तीन प्रमाण हैं ।८।

चाहिए । यत्र पद से देश और काल का बोधन किया है । वास्तु पद से यहां प्रेक्षागृह की भूमि का परिमाण समझना चाहिए । पूजा पद से यहां लक्षणं पूजनं चैव के अनुसार लक्षण के साथ कही हुई पूजा को कह दिया है ।६।

उसका लक्षण क्या है इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि "इह प्रेक्षागृहम्" इति । इस नाट्य मण्डप में । सन्निवेश । अवयवसन्निवेश उसमें सन्निवेश स्थापना ही है । च शब्द से यह प्रमाण । विश्वकर्मा के द्वारा परिकल्पित हैं । क्या विश्वकर्मा ने इनकी कल्पना अपनी बुद्धि से की है । नहीं । अपितु शास्त्र से प्रेक्षागृह का विचार करके । क्योंकि वह विचार करने में समर्थ है । कैसे जानते हैं इसपर कहते हैं कि धीमता इति । बुद्धिमान् है जानता है । शास्त्र से किया है वह भी अपरशास्त्र मूलक है इससे कहा कि शास्त्र कृत्रिम नहीं है अनित्य नहीं है प्रवाहानादित्व उसमें है ।७।

वह त्रिविध सन्निवेश कौन सा है इस पर कहते हैं विकृष्टश्च इति । विभाग के अनुसार कृष्ट है लम्बा है । यह नहीं है कि चारों दिशाओं में समान है इसलिए लम्बा है । तीन अश्रि जिसमें हों इस तरह मत्वर्थीय अच् यहाँ है । कोई कहता है यही ज्येष्ठादि

प्रमाणमेषां निर्दिष्टं हस्तदण्डसमाश्रयम् ।
शतं चाष्टौ चतुःषष्टिर्हस्ता द्वात्रिंशदेव च ॥६॥

अभिनवभारती

तथा चाह—एषामिति । प्रमाणं हस्तदण्डाश्रयं ज्येष्ठादित्वम् । न तु सन्निवेशाश्रयमिति यावत् ।

'शतं चाष्टौ चतुःषष्टिर्द्वात्रिंशच्चेति निश्चयात् ।'

इति केचित्पठन्ति । एषां चापि हस्तदण्डसमाश्रयत्वं वाचकं भवति । एतच्च सर्वसम्भवमात्रेणोच्यते । नानुवादकतया । न त्वियन्तो भेदा उपयोगिनः । एवं चाष्टादश भेदास्तावच्छास्त्रे दृष्टाः । ते चाद्यत्वे यद्यप्यनुपयोगिनः तथापि च सम्प्रदायाविच्छेदार्थं निर्दिष्टाः । केषाञ्चित्कदाचिदुपयोगो भविष्यतीति । यथोक्तम्—'अप्रयुक्ते दीर्घसत्रवत्' इति । (९)

मधुसूदनी

"अप्रयुक्ते दीर्घसत्रवत्" लोके वेदे च प्रयुक्तस्य शब्दराशेः साधुत्वाख्यानमाचार्येण पाणिनिना करणीयमुचितम् । किन्तु अप्रयुक्तशब्दराशिविषये साधुत्वाख्यानं निर्दिष्टं तत्किमर्थमिति । प्रश्ने दीर्घसत्रवदित्युत्तरम् । सहस्रवत्सरसाध्यो यज्ञविशेषो दीर्घसत्रशब्देनोच्यते । तस्यापि पद्धतिर्ब्राह्मणग्रन्थेषु निर्दिष्टा कदाचित्कश्चित्तं प्रयुंजीतेति बुद्ध्या । तथैवाप्रयुक्तशब्दराशेरपि, तथैवात्राष्टादशभेदानामपि संकेतो निर्दिष्टः । ७।९ ।

बालक्रीड़ा

(मूल) इन मण्डपों का माप लम्बाई एवं चौड़ाई नियत हस्त एवं नियत दण्डों के आश्रय पर है । जैसे ज्येष्ठ जिसका नाम विकृष्ट है उसका प्रमाण १०८ हाथ या दण्ड तीन हैं । दूसरे तो कहते हैं कि प्रत्येक तीन प्रकार का है अतः नो भेद यहां हैं । यही युक्त है । ८ ।

जैसा कि कहते हैं एषामिति । हस्तदण्ड के अनुसार ज्येष्ठादित्व प्रमाण है । न कि संन्निवेश के अनुसार । कोई १०८, ६४ एवं ३२ इस तरह के निश्चय से ऐसा पाठ मानते हैं ।

ऐसा पाठ मानने वालों के लिए भी हस्तदण्डसमाश्रयत्व ही प्राप्त होता है । किन्तु यह सब सम्भावना करके कहा गया है नकि किसी का अनुवाद है । क्योंकि इतने भेद उपयोगी नहीं हैं । इस प्रकार अठ्ठारह भेद शास्त्र में देखें गये हैं जो कि यद्यपि आज भी अनुपयोगी हैं, पहले भी अनुपयोगी थे । तद्यपि सम्प्रदाय न टूटने पाये इसलिए कह दिये गये हैं । कभी किसी का उपयोग हो सकता है । जैसा कि कहा है कि अप्रयुक्त शब्दों के साधुत्वाख्यान के विषय में दीर्घसत्रन्याय लगता है । प्रश्न होता है कि आचार्य ने लोक एवं वेद में जिन शब्दों का

अष्टाधिकं शतं ज्येष्ठं, चतुःषष्टिस्तु मध्यमम् ।
कनीयस्तु तथा वेश्म हस्ता द्वात्रिंशदिष्यते ॥१०॥
देवानां तु भवेज्ज्येष्ठां नृपाणां मध्यमं भवेत् ।
शेषाणां प्रकृतीनां तु कनीयः संविधीयते ॥११॥

अभिनवभारती

इदन्त्विहोपयोगीति दर्शयति—अष्टाधिकं शतमित्यादि । इष्यत इति । अन्यत्वेऽपीत्याशयः । (१०)

देवानामिति । यत्र देवासुरप्राया एव नायकप्रतिनायकास्तत्र डिमादावारभटीप्रधाने विततरङ्गपीठोपयोगात्, भाण्डवाद्यप्रधानत्वाच्च परिक्रमणादेरुच्चतरदीर्घतरदीर्घतालपरिग्रहादियोगाच्च व्यक्तभावस्यासम्भवादष्टोत्तरशतहस्तो मण्डप इत्यर्थः । यस्तु व्याचष्टे प्रेक्षका अत्र देवादयो विवक्षिता न तु प्रयोज्याः । तेषां नियतसंख्याकत्वादिति । तस्यास्मदभिप्रायो न स्मृतिपथमागतः सन्नपि दशरूपकादौ । स चानन्तरमेव दर्शयिष्यते । (११)

मधुसूदनी

अन्यत्वेऽपीति । मण्डपानां प्रमाणस्य भिन्नस्वरूपत्वेऽपि ज्येष्ठं, मध्यं तथावरं प्रमाणमिष्यते । इत्याशयः । कुत इष्यते इत्याह—देवानामिति । आरभटी प्रधाने डिमादौ अष्टोत्तरशतहस्तो मण्डप इष्यते इत्यन्वयः । कुत इत्याकांक्षायां विततादि चत्त्वारि विशेषणानि न्यस्तानि । व्यक्तभावस्य असंभावाच्च । व्यक्तोऽत्यन्तं स्पष्टो यो

बालक्रीड़ा

है । मध्यम चतुरस्र ६४ हाथ या दण्ड प्रमाण है । अवर त्र्यस्र ३२ हाथ या दण्ड प्रमाण है ।९।१०।

(मूल) देवताओं के लिए ज्येष्ठ होना चाहिए । राजाओं के लिए मध्यम होना चाहिए । अवशिष्ट जनता के लिए अवर का विधान है ।११।

प्रयोग होता है ऐसे प्रयुक्त शब्दों का साधुत्वाख्यान किया वह तो उचित है । किन्तु जिनका न कभी प्रयोग हुआ और न अभी भी होता है ऐसे अप्रयुक्त शब्दों का साधुत्वाख्यान क्यों किया । उत्तर । सहस्र सम्वत्सर साध्य यज्ञ विशेष को दीर्घसत्र कहते हैं । ऐसे यज्ञ कभी हुये नहीं तब भी ब्राह्मण ग्रन्थों में उनकी पद्धतियाँ बतलाई गई हैं । तदनुसार अप्रयुक्त शब्दों का साधुत्वाख्यान तथा अनुपयोगी नाट्यमण्डप के भेदों का संकेत कर दिया गया है कदाचित् कोई उनका प्रयोग करें । ९ ।

यह तो यहाँ उपयोगी है, अतः दिखाते हैं कि (अष्टाधिक शतमित्यादि) १०८ भेदों को आज भी चाहते हैं । १० ।

देवानामिति । जहाँ देव और असुर नायक और प्रतिनायक हैं वहाँ आरभटी प्रधान

(प्रेक्षागृहाणां सर्वेषां प्रशस्तं मध्यमं स्मृतम् ।
तत्र पाठ्यं च गेयं च सुखश्राव्यतरं भवेत् ॥१२॥
प्रेक्षागृहाणां सर्वेषां त्रिप्रकारो विधिः स्मृतः ।
विकृष्टश्चतुरस्रश्च त्र्यस्रश्चैव प्रयोक्तृभिः ॥१३॥
कनीयस्तु स्मृतं त्र्यस्रं, चतुरस्रं तु मध्यमम् ।
ज्येष्ठं विकृष्टं विज्ञेयं नाट्यवेदप्रयोक्तृभिः ॥१४॥)

प्रशिक्ष नांकटीन

अभिनवभारती

प्रमाणं लक्षणं यन्निर्दिष्टमिति जातावेकवचनम् ।

कानि प्रमणानीत्याह—अणू रजश्चेत्यादिना । तेषां लक्षणान्यह—अणवोऽष्टावित्यादि । यतः प्रभृति दृश्यता प्रवर्तते सोऽणुः । अणुः प्रसिद्धोऽणुपरिमाणः ।

मधुसूदनी

नानादृष्टिसमन्वितः आस्यगतो हृदयस्थोऽपि च भावः आशयः । तस्य असंभवात् । स्थलसंकोचे नाट्यपात्रैः स्वस्वाभिननीय भावस्य सावकाशं सोल्लासं प्रकाशनं दुःशकमिति रहस्यम् ।

बालक्रीड़ा

(मूल) सभी प्रेक्षागृहों में मध्यम प्रेक्षागृह प्रशस्त है। उसमें जो पढ़ा जायगा और जो गाया जायगा वह सभी से सुना जा सकेगा ।१२।

(मूल) सभी प्रेक्षागृहों की विकृष्ट, चतुरस्र एवं त्र्यस्र ये तीन विधियाँ नाटचाचार्यों ने याद की है ।१३।

(मूल) इन त्र्य छोटा, चतुरस्र मध्यम और विकृष्ट को ज्येष्ठ समझना चाहिये ।१४।

डिमादि रूपकों में १०८ हाथ वाला मण्डप अपेक्षित है। क्योंकि उसमें विस्तृत रंग पीठका उपयोग होता है। वहां भाण्डों और वाद्यों की प्रधानता है। और परिक्रमण घूमने में भी उच्चतर एवं लम्बे-लम्बे (हस्त) तालों का परिग्रहण किया जाता है अतः संकुचित स्थान होने से भावों का व्यक्तीकरण अर्थात् सामाजिकों को हृदयगामी रूप में स्पष्टीकरण नहीं किया जा सकता है। जो तो व्याख्या करते हैं कि यहां डिमादि में देवता लोग दर्शक ही हैं वे प्रयोज्य नहीं है अर्थात् अभिनय करने के लिए प्रेरणीय नहीं हैं। क्योंकि देवता अधिक हैं और अभिनय में नायक और प्रतिनायकों की संख्या नियत है। उनको हमारा अभिप्राय बुद्धिपथ में नहीं आया अर्थात् याद नहीं पड़ा। जो दशरूपक वगैरह ग्रन्थों में भी प्रचलित है। उसको अभी आगे दिखायेंगे । ११ ।

प्रमाण और लक्षण का जो निर्देश कर दिया है इस वाक्य में प्रमाण और लक्षण में जो एक वचन है वह जाति के अभिप्राय से है अतः एकवचन, द्विवचन, एवं बहुवचन को

प्रमाणं यच्च निर्दिष्टं लक्षणं विश्वकर्मणा ।
प्रेक्षागृहाणां सर्वेषां तच्चैव हि निबोधत ॥१५॥ २२
अणू रजश्च वालश्च लिक्षा यूका यवस्तथा ।
अङ्गुलं च तथा हस्तो दण्डश्चैव प्रकीर्तितः ॥१६॥ २३

अभिनवभारती

द्व्यणुकत्रयारब्धा अणव एव वा महत्त्वयुक्ताः । परमाणुद्वयारब्धे तु द्व्यणुकेऽणुपरिमाणमस्तु । कोऽत्र विरोध इत्यलमवान्तरेण । अनेनैवेति । 'देवानान्तु भवेत्' इत्यनेन यदुक्तम् । मण्डपाः—तद्यथा ज्येष्ठप्रमाणं डिमप्राये । यद्वक्ष्यति—

मधुसूदनी

अयं भावः । अग्रे वक्ष्यते —

अत ऊर्ध्वं न कर्त्तव्यः कर्त्तृभिर्नाटयमण्डपः
यस्मादव्यक्तभावं हि तत्र नाटयं व्रजेदिति ।

तत्र विस्तारे नाट्यमव्यक्तभावं व्रजेदिति हेतोः अतः ऊर्ध्वं न कर्त्तव्यो नाट्यमण्डपः ।

बालक्रीड़ा

(मूल) विश्वकर्मा ने सभी प्रेक्षागृहों का जो प्रमाण एवं लक्षण बतलाया है । उसको समझिये ।१५।

(मूल) प्रमाणों का नाम गिनाते हैं । अणु, रज, बाल, लिक्षा, यूका, यव, अंगुल, हस्त, और दण्ड । माप के लिए सबसे पहला अणु और अन्तिम दण्ड है ।१६।

आवश्यकतानुसार समझें । वे प्रमाण कौन है उनको कहते हैं । अणू रजश्च इत्यादि । उनके लक्षण कहते हैं आठ अणु इत्यादि । जहां से दृश्यता शुरू होती है अर्थात् दृश्य जगत् का प्रारम्भ जहां से होता है वह अणु है । अणु पद के अर्थ में शंका होती है कि अणु क्या है उसके उत्तर में कहते हैं कि अणु पदार्थ जो प्रसिद्ध अणुपरिमाण है वही है ।

जालान्तरगते भानौ यत्सूक्ष्मं दृश्यते रजः
तस्य षष्टितमो भागः परमाणुः स उच्यते ।

प्रासाद के झरोखों में पहुंची हुई सूर्य की किरणों में जो सूक्ष्म रजः कण दिखाई पड़ते हैं उनका ६० वां हिस्सा परमाणु कहाता है ।

प्रश्न होता है कि महत्व शाली उद्भूत रूप ही नयन से दृश्य होता है । यह तो सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है । उत्तर देते हैं कि ठीक है द्वचणुकत्रय से आरब्ध हुए ये अणु ही महत्व शाली हो जाते हैं । परमाणुद्वयारब्ध नहीं । परमाणुद्वयारब्ध द्वयणुक में तो अणु परिमाण ही है । अतः कोई यहां विरोध नहीं है । इस बाह्य अवान्तर विषय को बस करो ।

अभिनवभारती

निर्घातोल्कापातैरुपरागेणेन्दुसूर्ययोर्युक्तः ।
युद्धनियुद्धाघर्षणसम्फेटकृतश्च विज्ञेयः ॥
देवभुजगेन्द्रराक्षसयक्षपिशाचावकीर्णश्च ।
षोडशनायकबहुलः सात्त्वत्यारभटिकायुतस्तु डिमः ॥ (ना.शा.१८.)

इति । तथा मध्यमप्रमाणं नृपतिप्रायप्रयोज्ये नाटकादौ । यद्वक्ष्यति—

नृपतीनां यच्चरितम् । (ना.शा.१८.) इत्यादि ।

शेषप्रकृतिप्रयोज्ये भाणप्रहसनादौ । यच्च वक्ष्यति—

विविधाश्रयो हि भाणो विज्ञेयस्त्वेकहार्यस्तु । (ना.शा.१८.)

तथा "भगवत्तापसविप्रैरन्यैरपि च (ना.शा.१८.) इत्यादि ।

एवंभूतप्रकृतिप्रधाने प्रयोगे कनीयःप्रमाणो मण्डप, इति । एषाँ मण्डपानां मध्ये यो विनिर्णयः स एव सर्वसाधारणः मध्यमे कनीयसि च मण्डपे नाटकभाणप्रयोगात् । डिमप्राये यो मण्डपः तं वक्ष्यामीति । अयमभिप्रायः—ज्येष्ठमाने नाटकादिप्रयोग-

मधुसूदनी

यश्चाप्यास्यगतो भावो नानादृष्टिसमन्वितः
स वेश्मनः प्रकृष्टत्वाद्व्रजेदव्यक्ततां परामिति ।

योऽपि अभिनेतॄणां पात्राणां मुखगतो विविधाभिर्दृष्टिभिः समन्वितो भावः । स नाट्यमण्डपस्य विशालत्वात् परामव्यक्ततां व्रजेत् । परं प्रकृते डिमादौ तु स नाट्य-मण्डपः भावाभिव्यक्त्यर्थं विशाल एवापेक्षितः । तमन्तरा भावाभिव्यक्तेरसंभव एवेति ।

बालक्रीड़ा

अनेनैव ! ऐसे ही देवताओं का मण्डप निर्मित होता है इससे जो कहा है । बहुत से मण्डप हैं । वे जैसे डिमादि रूपकों में मण्डप का प्रमाण ज्येष्ठ है । जैसा कि कहेंगें ।

बिजली का कड़कना, एवं गिरना, चन्द्र एवं सूर्य का ग्रहण, युद्ध, नियुद्ध दण्डा-दण्डी हस्ता-हस्ती, परस्पर में टकरान संघर्ष, सम्फेट उपद्रवों से युक्त, देव, भुजगेन्द्रशेष वासुकि तक्षक वगैरह, राक्षस, यक्ष एवं पिशाचों से संकीर्ण अधिक से अधिक सोलह नायक (वैसे डिममें १२ नायक भी होते हैं) और सात्वतीमिश्रित आरभटी वृत्ति वाला डिम होता है ।

और मध्यम प्रमाण वाला मण्डप नृपतियों के द्वारा प्रयोज्य नाटकादि में जैसा कि नृपतियों का जो चरित इत्यादि नाटचशास्त्र के १८ वें अध्याय में कहेंगे ।

शेष बाकी प्रकृतियों के प्रयोज्य भाण एवं प्रहसन आदि में जैसा कहेंगे विविधता का आश्रय जहां लिया जाय और जो एक पात्र प्रयोज्य हो वह भाण है । तथा भगवान् नारायण, तपस्वी, ब्राह्मण या अन्य पात्रों के साथ हास्य मय वादों से युक्त प्रदर्शन होता हैं । इत्यादि । इस प्रकार के भगवत्तापस विप्र रूप प्रकृतियाँ जहां प्रधान रहेगी उन भाणादि प्रयोगों में कनीयः प्रमाण वाला मण्डप होता है । इन मण्डपों के विषय में जो-मध्यम प्रमाणवाले मण्डप में नाटकादि का प्रयोग, कनीयः (अल्प) प्रमाण वाले मण्डप में भाणादि का प्रयोग होता

द्वितीयोऽध्यायः

अणवोऽष्टौ रजः प्रोक्तं, तान्यष्टौ वाल उच्यते ।
वालास्त्वष्टौ भवेल्लिक्षा, यूका लिक्षाष्टकं भवेत् ॥१७॥ २४

अभिनवभारती

सौकर्याभावान्मध्यम एव युक्तः । स एव निर्णयः । विविधोऽपि दिव्यनृशेषप्रकृत्यादिस्वभावो निश्चयाभिमुख्यमभिनयप्रयोगद्वारेण नीयते यत्रेति । (११-१६)

तं दर्शयति—चतुष्षष्टिं करानित्यादि । प्रयोक्तुः पुरस्तात्पृष्ठतश्च मण्डपेऽस्मिन् सति करणार्होऽन्यथा न भवतीत्यर्थः । तदेव दर्शयति—मण्डपमिति । दीर्घत्वम् । पार्श्वयो

मधुसूदनी

तं निर्णयं दर्शयति । चतुःषष्टिं करानिति । मर्त्यानां यो मण्डपो भवेत् । तं मण्डपं चतुःषष्टिं करान् यावत् दीर्घत्वेन दीर्घत्वोपलक्षितं चतुषष्टिकरपरिमतं लम्बायमानं कुर्यात् । द्वात्रिंशतं करान् यावत् विस्तारात् विस्तारं कृत्वा अर्थात् द्वात्रिंशत्कर विस्तृतं कुर्यादित्यन्वयः । प्रयोक्तुरभिनेतुः पुरस्तात् समक्षं, पृष्ठतः पृष्ठभागे च । अस्मिन् दीर्घत्वे विस्तारे च सति मण्डपः करणार्हः प्रयोगकरणयोग्यो भवति अन्यथा तद्योग्यो न भवतीत्यर्थः । तदेव करणार्हत्वं दर्शयति—मण्डपमिति । दीर्घं पुरः पृष्ठयोरिति । पार्श्वयोर्विस्तारं विस्तारयुक्तम् । अशाद्यजन्तः । मर्त्यानामिति । न्यूनमण्डपकरणात् किम् अर्थात् किमपि फलं नास्ति । अकारणं हेतुं विनैव प्रयोगो न वेद्यते सामाजिकैरिति शेषः ।

बालक्रीड़ा

(मूल) आठ अणु का एक रज, आठ रज का एक बाल, आठ बाल का एक लिक्षा, आठ लिक्षा का एक यूका, आठ यूका का एक यव, आठ यव का एक अंगुल, २४ अंगुल का

है—विनिर्णय है, वही सर्व साधारण विनिर्णय है । डिमादि में जो मण्डप होगा उसको कहूँगा । अभिप्राय यह है कि ज्येष्ठ प्रमाण वाले मण्डप में नाटकादि के प्रयोग में सौन्दर्य नहीं हो सकता है अतः मण्डप मध्यम ही होना चाहिए यही निर्णय है ।

जैसा कि आगे कहेंगे कि विशाल मण्डप में उच्चारित पाठ्य का स्वर बाहर नहीं निकलता है वहीं गूंजता है अतः मजा वड़ा ही किरकिरा हो जाता है ।

मण्डपे विप्रकृष्टे तु पाठ्यमुच्चारितस्वरम् ।
अनिःस्सरणधर्मत्वाद्विस्वरत्वं भृशं व्रजेत् । इति ।

अब विनिर्णय का अर्थ कहते हैं विविध दिव्य, नृप एवं तापस प्रकृतियों के स्वभाव को अभिनय प्रयोग के द्वारा निश्चित रूप से जहां सम्मुख लाया जाय वह विनिर्णय है ।१२।१६।

उस विनिर्णय को दिखाते हैं चतुः षष्टि चौसठ हाथ एवं बत्तीस हाथ कहने का यह आशय है कि प्रयोक्ता अभिनेताओं के आगे और पीछे के हिस्से में यह लम्बाई और विस्तार (फैलाव) रहेगा तभी मण्डप प्रयोग करने के योग्य होगा । अन्यथा छोटा एवं संकुचित होगा तो अभिनय करने के योग्य नहीं होगा । इसको दिखाते हैं मण्डपमिति । सामने और पीछे लम्बा

यूकास्त्वष्टौ यवो ज्ञेयो, यवास्त्वष्टौ तथाङ्गुलम् ।
अङ्गुलानि तथा हस्तश्चतुर्विंशतिरुच्यते ॥१८॥
चतुर्हस्तो भवेद्दण्डो निर्दिष्टस्तु प्रमाणतः ।
अनेनैव प्रमाणेन वक्ष्याम्येषां विनिर्णयम् ॥१६॥

अभिनवभारती

विस्तारः । मर्त्यानामित्यनेन मण्डपकरणात् । किमित्यकारणं प्रयोगो नैव वेद्यत इत्याशयः । कर्तृभिरिति । किं तेषां वृथा प्रयासोत्पादनेनेति यावत् । तत्रेति । अतोऽधिकप्रमाणे अत्यन्तं न्यूनप्रमाणे चेत्यर्थः । नाट्यमिति । सकलावान्तरभेदप्रभेद दर्शयितुम् । नाट्यं यतोऽभिव्यक्तं भवतीति समुदायाभिप्रायेण मन्तव्यम् । एतदेवाह—अत ऊर्ध्वं नेति । अत इत्येवंविधो यतो मध्यमोऽस्ति ततो हेतोरित्यर्थः । ऊर्ध्वमिति । प्रमाणस्याधिक्यं न्यूनातिरेकाभ्यामिति मन्तव्यम् । न कर्तव्य इति । प्रकर्षः प्रकृष्टं तदतिक्रान्तो विप्रकृष्टः । किन्नियोगमानः तस्मिंश्च तत्र ज्येष्ठे । पाठ्यं यन्मुख्यं "नाट्य-

बालक्रीड़ा

एक हाथ और चार हाथ का एक दण्ड होता है । इसी प्रमाण के आधार पर इनका निर्णय कहूँगा ।१७।१८।१९।

और अगल बगल में विस्तृत मण्डप को करे । मर्त्यानां इससे दिखाते हैं कि न्यून मण्डप करने से क्या फल होगा । कुछ फल नहीं होगा । क्योंकि न्यून मण्डप के करने से विना कारण के ही प्रयोग सामाजिकों के समझ में नहीं आयेगा । प्रयोग के नहीं समझ में आने के कई कारण हैं । अभिनेतृ वर्ग को नाट्य की पूर्ण शिक्षा नहीं दी गई हो । या उन्होंने उसका अभ्यास नहीं किया हो । या वह उनको हृदयंगम नहीं हुआ हो तथा उसकी रिहर्सल (आचरण) नहीं की हो । शिक्षादि के सद्भाव में प्रयोग का समझ में नहीं आना अकारण है । यह आशय है । तब उसे नहीं समझने के और क्या कारण हो सकते हैं उसको दिखाते है अत ऊर्ध्वमिति ।

जब वह मण्डप इस प्रकार के प्रमाण का अपेक्षित है इसलिए । ऊर्ध्वमिति न कर्त्तव्य इति । प्रमाण से बाहर कम एवं वेश नहीं करना चाहिए ऐसा समझे । कर्तृभिरिति । क्यों कि कम एवं वेशी प्रमाण का बनवाने में निर्माण कर्ताओं को वृथा प्रयास देने से क्या फायदा है । तत्रेति । इस निर्णीत से अधिक प्रमाण में और अत्यन्त न्यून प्रमाण में भी वृथा प्रयास होगा । "नाट्यम्" यह पद नाट्य के सकल अवान्तर भेद और प्रभेद को दिखाने के लिए है । नाट्य उसमें अव्यक्त रहेगा स्पष्ट रूप से व्यक्त नहीं होगा यह कथन नाट्य समुदाय भेद प्रभेदात्मक के अभिप्राय को ग्रहण करके किया है ।

प्रकर्ष माने प्रकृष्ट उसको अति क्रान्त करने वाला विप्रकृष्ट । उस अधिक प्रमाण वाले ज्येष्ठ मण्डप में तथा कनीयान् मान वाले (त्र्यश्र) मण्डप में भी । पाठ्य जो कि मुख्य हैं (जैसा कि आगे कहेंगे कि यह पाठ्य नाट्य की तनू है शरीर है) वह निकटवर्ती सामाजिकों

चतुःषष्टिकरान्कुर्याद्दीर्घत्वेन तु मण्डपम् ।
द्वात्रिंशतं च विस्तारान्मर्त्यानां यो भवेदिह ॥२०॥ १७

अभिनवभारती

स्यैषा तनूस्स्मृता" (ना. शा. १४-२) इति दर्शयिष्यते । तद्विस्वरत्वं विशेषेणोपतापकत्वं निकटवर्तिनः प्रति व्रजेत् । अत्र हेतुः उच्चं कृत्वा चारितोऽतिक्लेशेन सम्पादितः स्वरः काक्वादिविभागो यत्र । तथा दूरवर्तिनः व्रजेत् । अत्र हेतुः अनिस्सरणधर्मत्वात् । निरन्तरे देशे सरणं द्वितीयशब्दारम्भः । स यस्य धर्मो नास्ति शब्दान्तराभावादित्यर्थः । तथाऽतिकनीयसि मण्डपे पाठ्यमुच्चारितस्वरं सदनिस्सरणधर्मत्वादनुरणनात्मकमधुरशब्दान्तरानारम्भात् विनष्टः स्वरो मधुरो यस्य तादृशत्वं व्रजेत् । अनुरणनं हि स्वरस्य पाठ्यसिद्धिरूपमिति गेयाधिकारे वक्ष्यामः । अनेन समानयोगक्षेमत्वात् अधिकातोद्यविस्वरत्वमपि लक्षितं भवति । तथा चोपसंहरिष्यति गेयं चेति । विस्वरत्वमिति, 'स्वृ शब्दोपतापयोः' इत्यस्य रूपम् । (१७-१९)

प्रधानस्य पाठ्यस्य प्रधानानुरणनभूतस्य च गीतातोद्यादेर्विनाशं प्रतिपाद्य अभिनयवर्गस्यापि प्रतिपादयति—यश्चापीति । आस्यगतो मुखगतो भावः योऽनुभा-

बालक्रीड़ा

(मूल) मनुष्यों का प्रेक्षागृह ६४ हाथ लम्बा और ३२ हाथ चौड़ा करना चाहिए ।२०।

के प्रति विस्वर याने उपतापक हो जायगा । इसमें हेतु देते है कि जिसमें ऊँचा करके बड़े क्लेश से स्वर में काक्वादि विभाग सम्पादित है चारित है । इसको और स्पष्ट करते हैं कि निकटवर्त्तियों को तो उपतापक है ही तथा दूरवर्त्ती सामाजिकों के लिए भी विस्वर अर्थात् शब्दों से शून्य अनाकर्णनीय हो जायगा । इसमें हेतु है अनिः सरणधर्मत्व । निरन्तर देश में सरण अर्थात् द्वितीय शब्द का आरम्भ नहीं होता । वह अनिःसरणधर्मत्व रूप धर्म जिसमें रहता है । अर्थात् शब्दान्तर के प्रसर का जहाँ अभाव है वह अनाकर्णनीय है । तथा कनीयान् मण्डप में पाठ्य उच्चारित स्वर हुआ भी अनिःसरणधर्मवान् होने पर अर्थात् अनुरणनात्मक मधुर स्वर का आरम्भक नहीं होने से मधुर स्वर जिसका विनष्ट हो गया ऐसे विस्वरत्व को प्राप्त हो जायगा । अनुरणन, स्वर के पाठ्य की सिद्धि का स्वरूप है इस बात को आगे गेयाधिकार में कहेंगे । इस व्याख्यान से यह भी प्रतीत हो गया कि समान योगक्षेम के होने के कारण जैसे शब्द का देश में निरन्तर सरण नहीं होने से विस्वरत्व होता है उसी तरह अधिक आतोद्य अर्थात् अधिक वाद्यों के द्वारा शब्दों के अधिक उत्पन्न होने से भी विस्वरत्व उपताप एवं अस्पष्टत्व भी हो जायगा । इसीलिए उपसंहार भी करेंगे गेयें चेति । प्रश्न=विस्वरत्व के उपताप और शब्दास्पष्टत्व अर्थ किस आधार से आपने लिखे । उत्तर । विस्वरत्वं यह स्वृ शब्दोपतापययोः धातु का रूप है ।१७।१८।१९।

प्रधान पाठ्य एवं प्रधानानुरणन भूत गीत तथा आतोद्य के विनाश का प्रतिपादन करके अभिनय वर्ग के विनाश का भी प्रतिपादन करते है यश्चापीति । जो भी मुख में दिखाई पड़ने वाला अनुभाव लक्षण भाव देखने की शैलियाँ, आँसू, पसीना और वैवर्ण्य आदि तथा

अत ऊर्ध्वं न कर्तव्यः कर्तृभिर्नाट्यमण्डपः ।
यस्मादव्यक्तभावं हि तत्र नाट्यं व्रजेदिति ॥२१॥
मण्डपे विप्रकृष्टे तु पाठ्यमुच्चारितस्वरम् ।
अनिस्सरणधर्मत्वाद्विस्वरत्वं भृशं व्रजेत् ॥२२॥

अभिनवभारती

वलक्षणो दृष्टिबाष्पस्वेदवैवर्ण्यादिः तथा मुकुटप्रतिशीर्षादिः । चकारादाङ्गिकः । स वेश्मनः प्रकृष्टत्वादतिविस्तीर्णत्वादव्यक्ततां गच्छेत् । तथा प्रगतं कृष्टं कर्षणं दैर्ध्यं यस्य तस्य भावः । ततः कनीयस्त्वाद्धेतोः परां द्वितीयामव्यक्ततां व्रजेत् । प्रथमं ह्यतिदूरत्वं कृत्वा सोक्ता । एवमुभयमण्डपाभिप्रायेणेदं व्याख्येयम् । अन्यथा तस्मान्मध्यममिष्यत इत्युपसंहारो न श्लिष्यति । तदाह—प्रेक्षागृहाणामित्यादि । मध्ये भवं मध्यमम् । तदिष्यते यतः सर्वेषां रूपाणां सम्बन्धि यत्पाठ्यं प्रधानं तनूरूपं, प्राणभूतोपरञ्जकरूपं च गीतं चकारादातोद्यं च श्रव्यतरं भवति । द्वितीयचकारादभिनयान्तरमपि दृश्यतरं भवतीत्यर्थः । तदुक्तं –

प्रेक्षागृहाणां सर्वेषां त्रिप्रकारो विधिः स्मृतः ।
विकृष्टश्चतुरस्रश्च त्र्यस्रश्चैव प्रयोक्तृभिः ॥
कनीयस्तु स्मृतं त्र्यस्रं, चतुरस्रं च मध्यमम् ।
ज्येष्ठं विकृष्टं विज्ञेयं नाट्यवेश्म प्रयोक्तृभिः ॥ (२०-२१)

बालक्रीड़ा

(मूल) इस प्रमाण से अधिक नहीं करना चाहिए । क्योंकि अधिक करने से नाट्य ही अव्यक्त हो जायगा ।२१।

(मूल) विप्रकृष्ट मण्डप में, स्वरपूर्वक उच्चारण किया हुआ भी पाठ्य विस्वर हो जायगा क्योंकि बाहर निकलेगा नही उसी में गूंज उठेगा ।२२।

मुकुट एवं प्रतिशीर्षक (शिरोवेष्टन) और चकार से आङ्गिक चेष्टाएँ वे सब नाट्य मण्डप के विशाल होने से अव्यक्त हो जायंगे । और अतीव छोटा होने से अतिसामीप्य के कारण दूसरे प्रकार की अव्यक्तता हो जायगी । इसीलिए प्रगत कृष्ट कर्षण अर्थात् दैर्घ्य जिसका उसका भाव प्रकृष्टत्व है । पहले अतिदूर होने के कारण अव्यक्तता कही थी । अब अति सामीप्य के कारण कही है । इस प्रकार उभय दोनों मण्डपों के अभिप्राय से इसकी व्याख्या करनी चाहिए । अन्यथा यदि दोनों के अभिप्राय के अनुसार व्याख्यान नहीं किया जायगा तो "इसलिए मध्यम प्रमाण वाला मण्डप इष्ट है" यह उपसंहार संगत नहीं होगा ।

जैसा कि कहा है प्रेक्षागृहाणामित्यादि । दो के मध्य में होने वाला मध्यम हैं । उसको चाहते हैं । क्योंकि इसमें सभी दशरूपकों का जो पाठ्य नाट्य शरीर रूप होने से प्रधान हैं और गीतं प्राणाः प्रयोगस्य के अनुसार प्राणभूत उपरंजक गीत, चकार से आतोद्य भी श्रव्यतर होता है । पाठ्यं च का एक चकार और गेयं च का दूसरा चकार । इस दूसरे चकार से अभिनेयान्तर भी दृश्य होता है ।२०।२१।

यश्चाप्यास्यगतो भावो नानादृष्टिसमन्वितः ।
स वेश्मनः प्रकृष्टत्वाद् व्रजेदव्यक्ततां पराम् ॥२३॥ 220

अभिनवभारती

ननु यद्येवंभूतः प्रयोगक्रमस्तर्हि हस्तसमाश्रयेणैव विधिर्वक्तव्यः। सोऽपि यत्र परिपूर्णो नोपकारी तत्र दण्डसमाश्रयेणातोद्यमानेन। अथ कदाचिद्दिव्यप्रकृतिप्रेक्षकाभिप्रायेण तदुच्यते तत्रापि कः स्तोकान्तरत्वेनेति न्यायेन का इह सम्भावनेत्याशङ्कां पराकर्तुं श्लोको भावी। अत एव पूर्वश्लोकेन सह नात्र पौनरुक्त्यं शङ्कितव्यम्। तस्यान्यथोपक्षेपात्। तच्छ्लोकमाह—देवानामित्यादि। मनसस्तदीयस्य सत्त्वबहुलत्वात् तत्कृत इन्द्रियविसर्जनलक्षणे व्यापारोऽतिरूपव्यापी। उपवनेष्वपि विततवितितेषु। का कथा मण्डपविषये। अत एव गृहेष्विति बहुवचनमुपात्तम्। तेन तदपेक्षया ते मण्डपा उक्ता इत्यर्थः। न त्वेवं मानुषाणां राजसानां मनः। तदाह—देवकृतैरिति। यत एवं तस्मान्मानुषस्यैव गेहस्य लक्षणं सम्यक्प्रवक्ष्यामि। तुशब्द एवकारार्थे। (२२:२३)

बालक्रीड़ा

(मूल) और भी बात है कि मण्डप के छोटे होने से पात्रों का अतिसामीप्य हो जायगा और बड़े होने से उनका अतिदूरत्व हो जायगा दोनों ही अवस्था में उन पात्रों के मुख पर जो भाव हैं, और भावों के अनुसार जो भिन्न-भिन्न प्रकार की दृष्टियाँ हैं वे सब स्पष्ट नहीं प्रतीत होंगी।२३।

प्रश्न—जब इस तरह का प्रयोग का क्रम है अर्थात् विप्रकष्ट में विस्वरत्व हो जाता है तब मध्यम के आधार पर ही अभिनय विधि कहनी चाहिए। जब वह भी पाठ्य गीता-तोद्य से परिपूर्ण होने से उपकरणों के अधिक होने से उपकारी नहीं हो। तब आतोद्यादि का भी प्रमाण से आश्रयण करना चाहिए। और यदि कदाचित् दिव्य प्रकृति प्रेक्षक हैं इस अभिप्राय से वह विधि कही हो तब अल्प अन्तर कौन चीज है अर्थात् आतोद्यादिकी अल्पता कोई भेद नहीं है इस न्याय से कौन इस विधि के कहने की सम्भावना है इस आशंका को दूर करने के लिए आगे का श्लोक कहते हैं। इसीलिए पूर्व पाँचवें श्लोक के साथ यहाँ पुनरुक्ति की आशंका नहीं करनी चाहिए। उसका उपक्षेप (विन्यास) तो प्रकारान्तर से भी हो सकता है। उस भावी श्लोक को कहते हैं। "देवानाम्" इत्यादि। देवताओं के मन में सत्त्वगुण का बाहुल्य है। उसके कारण इन्द्रियों के विसर्जन करने में उनका व्यापार अतिव्यापक रूप में होता है। विशाल या विस्तृत बगीचों में जो बगीचे अविविक्त है जिनमें एकान्त मिलना असम्भव हैं ऐसे बगीचों की भी जब वे मानसी सृष्टि कर लेते हैं तब मण्डप के निर्माण के विषय में तो कहना ही क्या है। केवल मण्डप के ही विषय में नहीं, घरों के विषय में भी यही स्थिति है। इसीलिए गृहेषु में बहुवचन का उपादान किया है। इससे सिद्ध है कि मनुष्यों के अनुरोध से वे मण्डप कहे हैं। क्योंकि मनुष्यों का मन रजोगुण प्रधान है। इसको स्पष्ट

प्रेक्षागृहाणां सर्वेषां तस्मान्मध्यममिष्यते ।
यावत्पाठ्यं च गेयं च तत्र श्रव्यतरं भवेत् ॥२४॥
देवानां मानसी सृष्टिर्गृहेषूपवनेषु च ।
यत्नभावाभिनिष्पन्नाः सर्वे भावा हि मानुषाः ॥२५॥
तस्माद्देवकृतैर्भावैर्न विस्पर्धेत मानुषः ।
मानुषस्य तु गेहस्य सम्प्रवक्ष्यामि लक्षणम् ॥२६॥
भूमेर्विभागं पूर्वं तु परीक्षेत प्रयोजकः ।
ततो वास्तु प्रमाणेन प्रारभेत शुभेच्छया ॥२७॥

अभिनवभारती

सम्यगिति यदुक्तं तदाह—भूमेरित्यादि । विभागो हेयोपादेयत्वेन । वास्त्विति । ग्रहणं प्रमाणं चेत्युपलक्ष्यमाणरूपेण प्रारभेत । कर्तुमिति शेषः ।

तं विभागमाह—समेत्यादि । समा स्वभावान्नातिनिम्नोन्नतेत्यर्थः । स्थिरा अचलनस्वभावा । कठिना अनूषरा । कृष्णा गौरी चेति चो वार्थे । अन्ये तु व्यामिश्रितत्वमाहुः । कर्तव्य इति करणार्हः । कथमित्याह—प्रथममित्यादि ।

बालक्रीड़ा

(मूल) इस वास्ते सभी प्रेक्षागृहों का प्रमाण मध्य ही होनी चाहिए । जिससे पाठ्य और गेय सभी वहाँ सुनाई पड़ें ।२४।

(मूल) मनुष्यों के भाव प्रयत्न से सम्पाद्य हैं अतः प्रत्यक्ष है । और देवताओं के भाव मानस हैं अतः परोक्ष हैं । अतः मनुष्यों को देवकृत भावों के साथ बराबरी नहीं करनी चाहिए । अब मैं मानवगेह के लक्षण कहूँगा ।२५।२६।

(मूल) प्रयोजक नटमण्डली के संचालक अर्थपति को पहिले भूखण्ड की परीक्षा करनी चाहिए । उसके बाद प्रमाण से इच्छानुसार वास्तु का आरम्भ करे ।२७।

करते है कि देव सम्बन्धी भावों के साथ मनुष्यों को स्पर्धा नहीं करनी चाहिए । जब ऐसी स्थिति है तब मनुष्यों के ही घर का लक्षण सम्यक् प्रकार से कहूँगा । यहाँ मानुषस्य तु में तु शब्द एवकार के अर्थ में है ।२२।२३।

सम्यक् कहूँगा जो कहा था उसे कहते हैं "भूमि के विभाग को" इत्यादि । विभाग शब्द के उपादान का यह आशय है कि भूमि के किस अंश को छोड़ना और किस अंश को ग्रहण करना है । वास्तु इति । यहाँ कर्त्तुं पद का विन्यास करना बाकी हैं । और वास्तु पद भूमि के ग्रहण और प्रमाण का उपलक्षण है । अतः भूमि के किस अंश की कितनी लम्बाई एवं चौड़ाई लेनी है । इसको समझकर वास्तु के निर्माण का प्रारम्भ करना चाहिए । पहले निर्दिष्ट किये हुए विभाग को बतलाते है समा इत्यादि । समा का आशय है कि स्वभाव से ही भूमि न नीची हो और न ऊँची हो । किन्तु बराबर हो जिससे अभिनेता क्षुब्ध न हों ।

समा स्थिरा तु कठिना कृष्णा गौरी च या भवेत् ।
भूमिस्तत्रैव कर्तव्यः कर्तृभिर्नाट्यमण्डपः ॥२८॥
प्रथमं शोधनं कृत्वा लाङ्गलेन समुत्कृषेत् ।
अस्थिकीलकपालानि तृणगुल्मांश्च शोधयेत् ॥२९॥
शोधयित्वा वसुमतीं प्रमाणं निर्दिशेत्ततः ।
त्रीण्युत्तराणि सौम्यं च विशाखापि च रेवती ॥३०॥

अभिनवभारती

शोधनमुपरिगताशुचिशर्कराद्यपसारणम् । ततो हलेनोद्धृतगुल्मपाषाणादिकां कुर्यात् एतदेवाह-अस्थीत्यादिना ।

एवं बाह्याभ्यन्तरतो भूमिशुद्धिं निरूप्यानन्तरकरणीयमाह—शोधयित्वेति । कथं प्रमाणनिर्देश इत्याह—पुष्येति । शुक्लसूत्रत्वं तावत्पिष्टरञ्जनादिना । चर्मकृतं मानसूत्रं न कार्यमिति च तात्पर्यम् । स्वामिनः प्रेक्षापतेः । प्रयोक्तुर्नाट्याचार्यस्य ।

बालक्रीड़ा

(मूल) जो भूमि बराबर हो ऊँची नीची नहीं हो, स्थिरा एवं कठिना हो अर्थात् आन्तरिक जलस्रोत के कारण खिसकने वाली नहीं हो । और कूड़ा वगैरह डालकर पाटी होने से आन्तरिक पोली नहीं हो । जिसमें मिट्टी काली एवं गौरी हो । उसी भूमि पर नाट्य मण्डप करना चाहिए ।२८।

(मूल) पहले भूमि का शोधन करने के लिए हल चलवा देना चाहिए । जिससे हड्डी, कील एवं खोपड़ी तथा घास एवं डण्ठल वग़ैरह की शुद्धि हो जाय ।२९।

(मूल) इस तरह पृथ्वी का शोधन करके प्रमाण का निर्देश करे । पुष्य नक्षत्र में सफेद सूत्र को फलावे ।३०।

स्थिरा अचल स्वभाव वालीअर्थात् जहाँ कम्पन नहीं होता हो । कठिन, ऊषर याने बंजड नहीं हो । काली मट्टी वाली या गौरी मट्टी वाली भूमि हो । अन्य तो कहते हैं कि काली और गौरी दोनों मिली जुली हों । कर्त्तव्य याने मण्डप बनाने के योग्य हो । यह कैसे हो । बतलाते हैं प्रथम शोधन अर्थात् भूमि के ऊपर के हिस्से से गन्दी मट्टी को हटा देना । उसके बाद हल को जोत कर गुल्म पेड़ों के भग्नावशेष एवं पत्थर कंकड़ को उखाड़कर फेंक देना । इसी का स्पष्टीकरण करते हैं । हड्डी आदि को निकालना ।

इसी तरह बाहर एवं भीतर से भूमि शुद्धि के निरूपण करने के बाद आगे क्या करना चाहिए उसको कहते है शोधयित्वा । इति । प्रमाण का निर्देश कैसे करे इसको कहते हैं । पुष्येति । सूत को पिसान की पालिस से श्वेत करना है । इसके कहने का तात्पर्य है कि चमड़े का मानसूत्र नहीं करना चाहिए । स्वामी का अर्थ है प्रेक्षागृह का अधिपति । प्रयोक्ता माने नाट्याचार्य । प्रयत्न से रस्सी को पकड़ना चाहिए का आशय हैं जो रस्सी टूट नहीं

हस्ततिष्यानुराधाश्च प्रशस्ता नाट्यकर्मणि ।
पुष्यनक्षत्रयोगेन शुक्लं सूत्रं प्रसारयेत् ॥३१॥
कार्पासं बाल्बजं वापि मौञ्जं वाल्कलमेव च ।
सूत्रं बुधैस्तु कर्तव्यं यस्य च्छेदो न विद्यते ॥३२॥
अर्धच्छिन्ने भवेत्सूत्रे स्वामिनो मरणं ध्रुवम् ।
त्रिभागच्छिन्नया रज्ज्वा राष्ट्रकोपो विधीयते ॥३३॥

अभिनवभारती

प्रयत्नेन रज्जुग्रहणमित्यच्छेद्यानुभरणीया । तादृशी च सावधानतयाऽवष्टम्भवियोगाद्; उभयं यथा, तथा प्रयत्नतो योज्या । नित्यमिति । न केवलमत्र प्रथमपरिग्रहे यावदन्यभाविस्तम्भविनिवेशाय भूभागमानग्रहणादावित्यर्थः । प्रयत्नेन मानमित्यूनाधिकादिदोषवर्जनायायं यत्न इत्यपौनरुक्त्यम् । मुहूर्तो ब्राह्मादिः । तिथिर्नन्दादिः । करणं विष्ट्यादिर्रहितम् (२४-३२) ।

सूत्रप्रसारणेन यत्कृत्यं तदाह—चतुष्षष्टिरित्यादि । चतुष्षष्टिर्हस्तदैर्घ्याद्विस्ताराच्च द्वात्रिंशत्करं क्षेत्रं गृहीत्वा मध्ये सूत्रं विस्तारेण दद्यात् । तत्र यत्प्रयोक्तुः पृष्ठगं

बालक्रीड़ा

(मूल) तीनों उत्तरा, सौम्य, विशाखा, रेवती, हस्त, पुष्य एवं अनुराधा नक्षत्र नाट्य मण्डप बनाने में शुभ हैं ।३१।

(मूल) विद्वानों का सूत्र ऐसा होना चाहिए जो टूटने न पावे । अतः रूई, बल्व, मूँज या वृक्षों के बल्कल से बना हुआ सूत्र होना चाहिए ।३२।

(मूल) सूत्र के बीच में से टूट जाने से स्वामी का मरण होता है और तीसरे हिस्से में टूटने से राष्ट्र में विप्लव होता है । चौथे हिस्से में टूटने से प्रयोक्ता नट का नाश होता है ।

सके ऐसी अच्छेद्य रस्सी को लेना चाहिए । ऐसी रस्सी तो सावधानी से ग्रहण एवं त्याग करने पर भी मानी जा सकती है । अतः उभय था सावधानी और असावधानी किसी भी प्रकार से रस्सी को ग्रहण किया जाय पर टूट न सके ऐसी रस्सी को प्रयत्न से ग्रहण करना चाहिए । नित्य कहने का आशय है कि केवल प्रथम परिग्रहण में ही नहीं यावत् सभी अन्य भावी स्तम्भों के विनिवेश के लिए भूभाग के माप को ग्रहण करने आदि में भी रस्सी अच्छेद्य लेनी चाहिए । प्रयत्न से मान को लेवे कहने का आशय है कि कमी और वेशी आदि दोषों के वर्जन के लिए यह प्रयत्न है । अतः पौनरुक्त्य नहीं समझना चाहिए । मुहूर्त ब्राह्म आदि, तिथि नन्दा आदि । विष्टि व्यतिपात आदि से रहित करण लेने चाहिए ।२४।३२।

सूत्र के फैलाने से जो कार्य किया उसको कहते है चतुः षष्टिः । इत्यादि, एक जमीन जो लम्बाई एवं अगल बगल की चौड़ाई में ६४ हाथ की हो उसके मध्य में अर्थात् ३२ हाथ के भू भाग पर सूत्र को फैलावे । उस फैलाने में जो भाग नाट्याचार्य के पीछे की ओर पड़ेगा वही मण्डप का पृष्ठ हिस्सा कहलायेगा । उसके बीच में सूत्र को फैलावे ।

छिन्नायां तु चतुर्भागे प्रयोक्तुर्नाश उच्यते ।
हस्तात्प्रभ्रष्टया वापि कश्चित्त्वपचयो भवेत् ॥३४॥
तस्मान्नित्यं प्रयत्नेन रज्जुग्रहणमिष्यते ।
कार्यं चैव प्रयत्नेन मानं नाट्यगृहस्य तु ॥३५॥
मुहूर्तेनानुकूलेन तिथ्या सुकरणेन च ।
ब्राह्मणांस्तर्पयित्वा तु पुण्याहं वाचयेत्ततः ॥३६॥
शान्तितोयं ततो दत्वा त ः सूत्रं प्रसारयेत् ।
चतुष्षष्टिकरान्कृत्वा द्विधा कुर्यात्पुनश्च तान् ॥३७॥
पृष्ठतो यो भवेद्भागो द्विधाभूतस्य तस्य तु ।
सममर्धविभागेन रङ्गशीर्षं प्रकल्पयेत् ॥३८॥

अभिनवभारती

भविष्यति तदेव पृष्ठम् । तस्य मध्ये विस्तारेण सूत्रं दद्यात् । ततः षोडशहस्तौ द्वौ भागौ भवतः । पृष्ठगतं भागमर्धेन विभज्याष्टहस्तं रङ्गशिरः । प्रविशतां पात्राणां चान्तःस्थानम् । नाट्यमण्डपस्य ह्युत्तानसुप्तवदवस्थितस्य रङ्गपीठं मुख्यम् । तदष्टहस्तं शिरः । तत्पृष्ठे तु दैर्घ्याद्धि षोडशहस्तं नेपथ्यगृहं भवति । विस्तारात्त द्वात्रिंशत्कर-

बालक्रीड़ा

(मूल) और सूत्र के हाथ से गिर जाने से कोई हानि होती हैं । इस वास्ते बड़े प्रयत्न से सूत्र का ग्रहण होना चाहिए और नाट्यगृह का माप करना चाहिए ।३३।३४।३५।

(मूल) अनुकूल मुहूर्त्त, (ब्राह्म, अभिजित् विन्द वगैरह) तिथि एवं उत्तम करण के अनुसार पुण्याह वाचन करावे और ब्राह्मणों को भोजन करावे ।३६।

(मूल) शान्तिक जल से मार्जन करके सूत्र को फैलावे । चौसठ हाथों की भूमि के ३२ स ३२ स हाथ के द्रो विभाग करे ।३७।

(मूल) उस द्विधा विभक्त भूमि के पश्चिम हिस्से का भी बराबर-बराबर आधा भाग करे । एक आधे भाग में रंग शीर्ष बनाये नाट्यमञ्च का मुख्य भाग बनाये ।३८।

इसके भी सोलह २ हाथ के दो हिस्से हो जाँयगे । पृष्ठगत भाग का भी आधा हिस्सा करें उसमें आठ हाथ का रंग का मस्तक । जो भीतर प्रवेश करने वाले पात्रों का अन्तः स्थान कहलायेगा । उत्तान सीधे सोये हुए व्यक्ति की तरह अवस्थित नाट्यमण्डप का मुख्य स्थान रंगपीठ कहलाता है । उसमें आठ हाथ का शिरो भाग है । उसके पृष्ठ भाग में सोलह हाथ लम्बा नेपथ्य घर होता है । फैलाव में वह ३२ हाथ का है । उसी ३२ हाथ की जमीन में नेपथ्य गृह वगैरह को लेना है । उसे कहते हैं कि पश्चिम म तो नेपथ्य गृह बनाना है । कोई तो कहते है नाट्यमण्डप में रंगपीठ सोलह हाथ चौड़ा औंर आठ हाथ लम्बा होता है । दूसरे इसी का उलटा आठ हाथ चौड़े और सोलह हाथ लम्बे रंगपीठ को बतलाते हैं । कुछ

पश्चिमे च विभागेऽथ नेपथ्यगृहमादिशेत् ।
विभज्य भागान्विधिवद्यथावदनुपूर्वशः ।।३९।।
शुभे नक्षत्रयोगे च मण्डपस्य निवेशनम् ।
शङ्खदुन्दुभिनिर्घोषैर्मृदङ्गपणवादिभिः ।।४०।।
सर्वातोद्यैः प्रणुदितैः स्थापनं कार्यमेव तु ।
उत्सार्याणि त्वनिष्टानि पाषण्ड्याश्रमिणस्तथा ।।४१।।
काषायवसनाश्चैव विकलाश्चैव ये नराः ।
निशायां च बलिः कार्यो नानाभोजनसंयुतः ।।४२।।

अभिनवभारती

मेव तत् । नेपथ्यादिकं च तत्र गृह्यते । तदाह—पश्चिमे चेति । तत्र रङ्गपीठं विस्तरतः षोडश दैर्घ्यतस्त्वष्टहस्ता इति केचित् । अन्ये त्वेतदेव विपर्यासयन्ति । सर्वथा तावद्रङ्गपीठस्यापि विकृष्टत्वं विधेयमिति तात्पर्यम् । यद्वक्ष्यते—रङ्गो विकृष्टो भरतेन कार्यः (ना.शा. १२-२०) इत्यादि । (३७-३९)

एवं मानविधिमभिधायेष्टकास्थापनरूपे निवेशने विधिमाह—शुभे नक्षत्रयोग इत्यादिना । दशसु तिर्यगूर्ध्वाधोरूपासु दिक्षु बलिः कार्य इत्युक्त्वा चतसृषु दिक्षु

बालक्रीड़ा

(मूल) और आधे हिस्से में पश्चिम दिशा की तरफ पात्रों के लिए नेपथ्य-गृह जिसमें पात्र भिन्न-भिन्न वेषों को धारण करते हैं। को बनावे ।३९।

(मूल) शुभ नक्षत्र में शंख एवं नगाड़ों की ध्वनि के साथ मृदङ्ग पणव वगैरह सभी प्रकार के बाजों को बजाते हुए नाटच मण्डप कीं स्थापना करनी चाहिये ।।४०।।

(मूल) लुच्चे लफंगे गुण्डे अन्धे लूले लंगड़ों तथा और भी अनिष्टकारी पदार्थों एवं पाखण्डी, सन्यासी, कषाय वस्त्रधारी, तथा हीनांग नरों को वहाँ से हटा देना चाहिये ।।४१।।

(मूल) अर्ध रात्रि में दशों दिशाओं में गंध पुष्प एवं फलों से युक्त नाना भोजन मिश्रित बलि करना चाहिये ।।४२।।

भी हो तात्पर्य यह है कि रंगपीठ को विकृष्ट बनाना चाहिए। जैसा कि आगे कहेंगें कि रंग पीठ को विकृष्ट करना भरत के लिए आवश्यक है। ना० शा० १२-१२० में इत्यादि कहा है ।३७।३९।

इस प्रकार मान विधि को कहकर ईटों के रखने में विधि को कहते हैं। शुभ नक्षत्रों में इत्यादि तिरछी, ऊँची एवं नीची दशों दिशाओं में बलि को देना चाहिए। ऐसा करके चारों दिशाओं में बलि देने का विधान कहा है वह अन्यथा नहीं है। इस अभिप्राय से व्यापक

गन्धपुष्पफलोपेतो दिशो दश समाश्रितः ।
पूर्वेण शुक्लान्नयुतो नीलान्नो दक्षिणेन च ॥४३॥
पश्चिमेन बलिः पीतो रक्तश्चैवोत्तरेण तु ।
यादृशं दिशि यस्यां तु दैवतं परिकल्पितम् ॥४४॥
तादृशस्तत्र दातव्यो बलिर्मन्त्रपुरस्कृतः ।
स्थापने ब्राह्मणेभ्यश्च दातव्यं घृतपायसम् ॥४५॥
मधुपर्कस्तथा राज्ञे कर्तृभ्यश्च गुडौदनम् ।
नक्षत्रेण तु कर्तव्यं मूलेन स्थापनं बुधैः ॥४६॥

अभिनवभारती

बलिविधिरुक्तो नान्यथेत्यभिप्रायेण व्यापकं विधिमाह—यादृशमित्यादिना । तेनाग्नेये रक्तवर्ण इत्याद्यूह्यम् । मन्त्रा वरणपूजाविधौ वक्ष्यमाणाः । ते च कर्मशंसोपयोगिनोहेन युक्ता विधेयाः । 'मन्त्रेण स्मृतं कर्म करोति' इति हि स्मृतिः । अन्ये तु तद्देवताकैः श्रुतिमन्त्रैरेव बलिकर्मेत्याहुः । तल्लिङ्गैरित्यन्ये । चकरो भिन्नक्रमः । न केवलं मानोपक्रमे ब्राह्मणतर्पणं यावत्स्थापनेऽपीत्यर्थः । (४०-४४)

बालक्रीड़ा

(मूल) पूर्व दिशा में शुक्ल अन्न की, दक्षिण में नील अन्न की, पश्चिम में पीत अन्न की और उत्तर में रक्त अन्न की बलि देनी चाहिए ॥४३॥

(मूल) जिस दिशा में जैसा देवता माना गया है उस दिशा में वैसी ही बलि मन्त्रों द्वारा देनी चाहिये ॥४४॥

(मूल) मण्डप के स्थापन के समय में ब्राह्मणों को घृताक्त पायस खिलाना चाहिये । राजा को मधु पर्क एवं नटों को मीठा भात खिलाना चाहिये ॥४५॥

(मूल) मूल नक्षत्र और अनुकूल मुहूर्त्त एवं तिथि तथा शुभ करण में स्थापना करनी चाहिये ॥४६॥

रूप से बलि के विधान को कहते हैं । यादृशमित्यादि से । इससे अग्निकोण में रक्तवर्ण की बलि देनी है यह समझना चाहिए। मन्त्रों को आगे ब्राह्मण एवं देवपूजन के समय कहेंगे । उन मन्त्रों के इस ऊह से विधि का अनुगमन करना चाहिए । जिससे उन मन्त्रों के द्वारा उस कर्म के शंसन में कथन में उपयोग होवे । जैसा कि स्मृतिकार का निर्देश है कि मंत्र से स्मृत जाने हुए कर्म को करता है । दूसरे लोग तो कहते हैं कि उस देवता के श्रौत मन्त्रों से ही बलि कर्म करना है ऐसा कहा है । और लोगों का कहना है कि देवताओं के लिंग जिन मंत्रों में हो उन मन्त्रों से बलि देना चाहिए । ब्राह्मणेभ्यश्च में चकार का स्थान भिन्न है । अर्थात् स्थापने है; अतः न केवल मापने के समय ही स्थापना के समय में भी ब्राह्मणों की तृप्ति करनी चाहिए ।४०-४४।

मुहूर्तेनानुकूलेन तिथ्या सुकरणेन च ।
एवं तु स्थापनं कृत्वा भित्तिकर्म प्रयोजयेत् ॥४७॥
भित्तिकर्मणि निर्वृत्ते स्तम्भानां स्थापनं ततः ।
तिथिनक्षत्रयोगेन शुभेन करणेन च ॥४८॥
स्तम्भानां स्थापनं कार्यं रोहिण्या श्रवणेन वा ।
आचार्येण सुयुक्तेन त्रिरात्रोपोषितेन च ॥४९॥
स्तम्भानां स्थापनं कार्यं प्राप्ते सूर्योदये शुभे ।
प्रथमे ब्राह्मणस्तम्भे सर्पिस्सर्षपसंस्कृतः ॥५०॥
सर्वशुक्लो विधिः कार्यो दद्यात्पायसमेव च ।
ततश्च क्षत्रियस्तम्भे वस्त्रमाल्यानुलेपनम् ॥५१॥

अभिनवभारती

एवं मानविधिं स्थापनविधिं भित्तिकर्मविधिं च कृत्वा स्तम्भविधिः कार्य इति दर्शयति—भित्तिकर्मणीति । स्थापनमुच्छ्रायणम् । प्रथमं त्वाग्नेयः कोणः : तस्य विशेषणैः अनुवादलिङ्गविधिः कल्प्यः । शुक्लं सर्वत्र । पायसमिति—द्विजेभ्य इति प्रकरणात् । सर्वस्य विध्यनुसारेणैव भोजनं शुक्लादिवर्णमिति मन्तव्यम् । ततश्चेति । तदन्त इत्यर्थः । (४८-५१)

बालक्रीड़ा

(मूल) इस प्रकार स्थापना करके दिवाल बनाना आरम्भ करे। भित्ति कर्म के पूर्ण होने पर स्तम्भों का स्थापन करे ॥४७॥

(मूल) शुभ तिथि, रोहिणी या श्रवण नक्षत्र, शुभ योग शुभ करण में स्तम्भों को स्थापद करना चाहिए ॥४८॥

बुद्धिमान् आचार्य तीन रातों में उपवास करके प्रातः सूर्योदय के समय में स्तम्भों का स्थापन करे ॥४९॥

(मूल) प्रथम स्तम्भ ब्राह्मण स्तम्भ है। इसमें सब विधियाँ श्वेत होनी चाहिए। घी एवं श्वेत सरसों का संस्कार बलि में रहना चाहिये। और बलि में पायस रखना रखनां चाहिये ॥५०॥

इस प्रकार रंगप्रमाण विधि, इष्टका की स्थापन विधि और भित्तिकर्म विधियों को करके स्तम्भोच्छ्राय विधि करनी चाहिए। अतः उसको कहते है कि भित्तिकर्म के सम्पन्न होने पर इत्यादि। स्थापना का अर्थ है खड़ा करना। इस क्रिया में पहले अग्निकोण लेना है। उसकी विधि को विशेषणों से सूचित लिंग के अनुसार करना है सभी जगह शुक्ल विधि करनी चाहिए। पायस ब्राह्मणों को खिलानी चाहिए। यहाँ द्विजेभ्यः इसको प्रकरण से समझना है। विधि के अनुसार शुक्लादि वर्णवाला भोजन सभी को देना है यह समझने की बात है। "ततश्च" इति। उसके अन्त में यह अर्थ है।४८-५१।

सर्वं रक्तं प्रदातव्यं द्विजेभ्यश्च गुडौदनम् ।
वैश्यस्तम्भे विधिः कार्यो दिग्भागे पश्चिमोत्तरे ॥५२॥
सर्वं पीतं प्रदातव्यं द्विजेभ्यश्च घृतौदनम् ।
शूद्रस्तम्भे विधिः कार्यः सम्यक्पूर्वोत्तराश्रये ॥५३॥
नीलप्रायं प्रयत्नेन कृसरं च द्विजाशनम् ।
पूर्वोक्तब्राह्मणस्तम्भे शुक्लमाल्यानुलेपने ॥५४॥
निक्षिपेत्कनकं मूले कर्णाभरणसंश्रयम् ।
ताम्रं चाधः प्रदातव्यं स्तम्भे क्षत्रियसंज्ञके ॥५५॥
वैश्यस्तम्भस्य मूले तु रजतं सम्प्रदापयेत् ।
शूद्रस्तम्भस्य मूले तु दद्यादायसमेव च ॥५६॥
सर्वेष्वेव तु निक्षेप्यं स्तम्भमूलेषु काञ्चनम् ।
स्वस्तिपुण्याहघोषेण जयशब्देन चैव हि ॥५७॥
स्तम्भानां स्थापनं कार्यं पुष्पमालापुरस्कृतम् ।
रत्नदानैः सगोदानैर्वस्त्रदानैरनल्पकैः ॥५८॥

बालक्रीड़ा

(मूल) इसके बाद क्षत्रिय स्तम्भ में वस्त्र, माल्य, एवं चन्दन सभी सामग्री रक्त वर्ण की होनी चाहिये । और ब्राह्मणों को मीठा भात खिलाना चाहिये ॥५१॥

(मूल) वैश्य स्तम्भ में पश्चिम उत्तर के कोने में बलि देवे । इसमें सभी वस्तु पीत होनी चाहिए और ब्राह्मणों को घृत के साथ भात खिलाने चाहिए ॥५२॥

(मूल) शूद्र स्तम्भ में पूर्व उत्तर के कोन में विधि करनी चाहिये । इसमें सभी वस्तुएँ नीले रंग की होनी चाहिए । ब्राह्मणों को खिचड़ी खिलानी चाहिए ॥५३॥

(मूल) पूर्व दिशा के ब्राह्मण स्तम्भ में जिसमें श्वेत वस्त्र श्वेत चन्दन एवं मालाएँ हैं उसकी जड़ में इतना सोना छोड़े जो कर्णाभरण के संश्रय याने निर्माण के उपयुक्त होवे ॥५४॥

(मूल) क्षत्रिय स्तम्भ की जड़ में ताम्बा और वैश्य स्तम्भ की जड़ में चाँदी और शूद्र स्तम्भ की जड़ में लोहा छोड़े और अवशिष्ट स्तम्भों की जड़ों में सोना छोड़े ॥५५॥५६॥

(मूल) स्वस्ति पुण्याह बाचन एवं जयघोष के साथ स्तम्भों की स्थापना करे और उनको पुष्प मालाओं से सजावे ॥५७॥

(मूल) पर्याप्त मात्रा में रत्न, गो एवं वस्त्र दानों से ब्राह्मणों को तृप्त करके स्तम्भों को खड़ा करे । करते समय स्तम्भ का अचल अर्थात् स्थिर होना अकम्प्य अर्थात् डोलायमान नहीं होना तथा अचलित अर्थात् इधर उधर घूमने वाला नहीं होना आवश्यक है । क्योंकि स्तम्भ के ठीक तौर से नहीं खड़ा करने में आगे कहे जाने वाले दोष हो जाते हैं ॥५८॥५९॥

ब्राह्मणांस्तर्पयित्वा तु स्तम्भानुत्थापयेत्ततः ।
अचलं चाप्यकम्प्यञ्च तथैवावलितं पुनः ॥५६॥ ५५
स्तम्भस्योत्थापने सम्यग्दोषा ह्येते प्रकीर्तिताः ।
अवृष्टिरुक्ता चलने, वलने मृत्युतो भयम् ॥६०॥ ५६
कम्पने परचक्रे तु भयं भवति दारुणम् । परचक्र
दोषैरेतैर्विहीनं तु स्तम्भमुत्थापयेच्छिवम् ॥६१॥ ५७
पवित्रे ब्राह्मणस्तम्भे दातव्या दक्षिणा च गौः ।
शेषाणां भोजनं कार्यं स्थापने कर्तृसंश्रयम् ॥६२॥ ५८

अभिनवभारती

अचलमिति । स्थानान्तरानिवेशलक्षणमनेनोक्तम् । अविद्यमाना चलना यस्येति । अकम्प्यमिति । तत्रैव स्थानशिथिलता येन न भवति । अवलितमिति । बलयाकृत्यादिना परिवर्तनं यस्य करणीयं न भवति । दोषसूचकत्वाद्दोषकारित्वाच्च दोषाः । तान्दोषानाह—अवृष्टिरित्यादि । (५९-६१)

दातव्येति । द्विजायेति दातव्यबलाल्लभ्यते । अभिमन्त्र्येति सूचितो यः

बालक्रीड़ा

(मूल) स्तम्भ के चल होने पर अवृत्ति होती है, वलन होने पर मृत्यु का भय होता है । और कम्पन होने पर दुश्मनों से भीषण भय होता है । अतः इन दोषों से रहित पवित्र कल्याणकारी स्तम्भ को खड़ा करे ॥६०॥६१॥

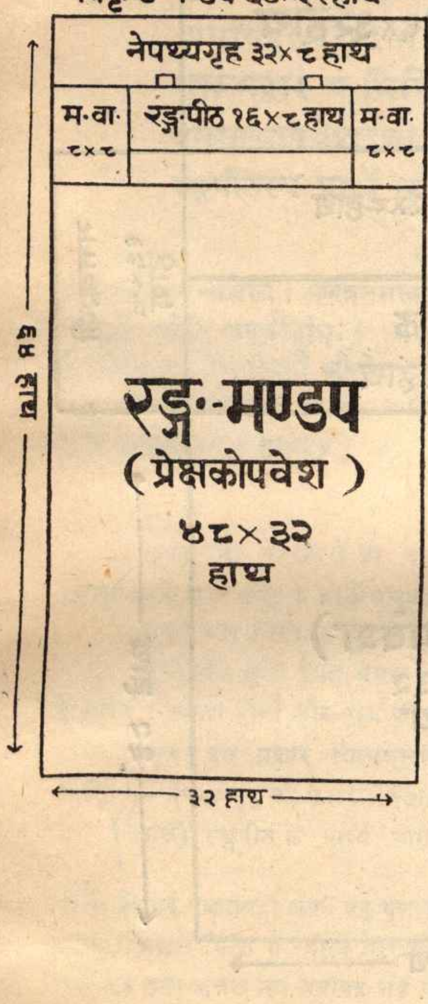
(मूल) ब्राह्मण स्तम्भ के खड़ा करते समय ब्राह्मणों की दक्षिणा गौ देनी चाहिए । अवशिष्ट अन्य स्तम्भों के स्थापन करने में नाटच करने वालों को भोजन कराना चाहिए ॥६२॥

(मूल) बुद्धिमान् नाटचचार्य को चाहिये कि मंत्रपूत भोजन का दान करें । और पुरोहित एवं राजा को मधु एवं पायस का भोजन करावे ॥६३॥

अचलमिति । यहाँ अचल कहने का अभिप्राय है कि स्तम्भ का लक्षण है स्थानान्तर में सन्निवेश नहीं करना । अतएव जिसका चलना अर्थात् चलन नहीं होता है । अकम्प्यमिति । वहीं पर उसकी स्थिति शिथिल जिससे नहीं होने पावे । अवलितमिति । वलन अर्थात् आकृति वगैरह से जिसका परिवर्तन नहीं किया जा सके । गन्दा कर देने विकृत कर देने वाले को तो दोष कहते ही हैं । उन दोषों को कहते हैं अवृष्टिरित्यादि ।५९।६१।

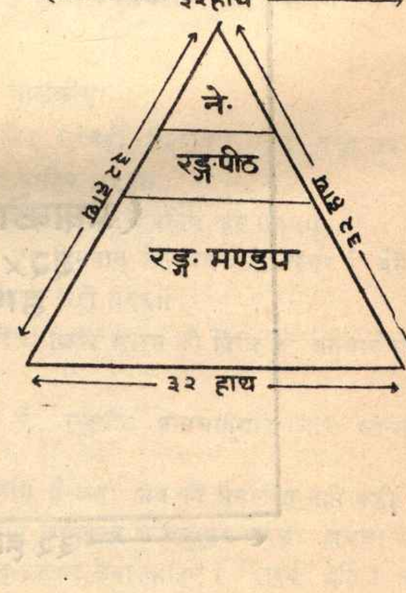
दातव्येति । दानीय ब्राह्मण होता है अतः दातव्यपद के बल से "द्विज के लिए" यह विशेषण मिल गया । अभिमन्त्र्येति "अभिमंत्रित करके" इससे सूचित जो मन्त्र है उसको कहते हैं यथेति । प्रणव ओंकार और नमस्कार के बीच में इस मन्त्र को पढ़ना चाहिए । यह वास्तुविद्या के जानकारों का मत है । अचलो भव यह अपूर्व विधि है । इसको अनुवाद

विकृष्ट-मण्डप ६४×३२ हाथ

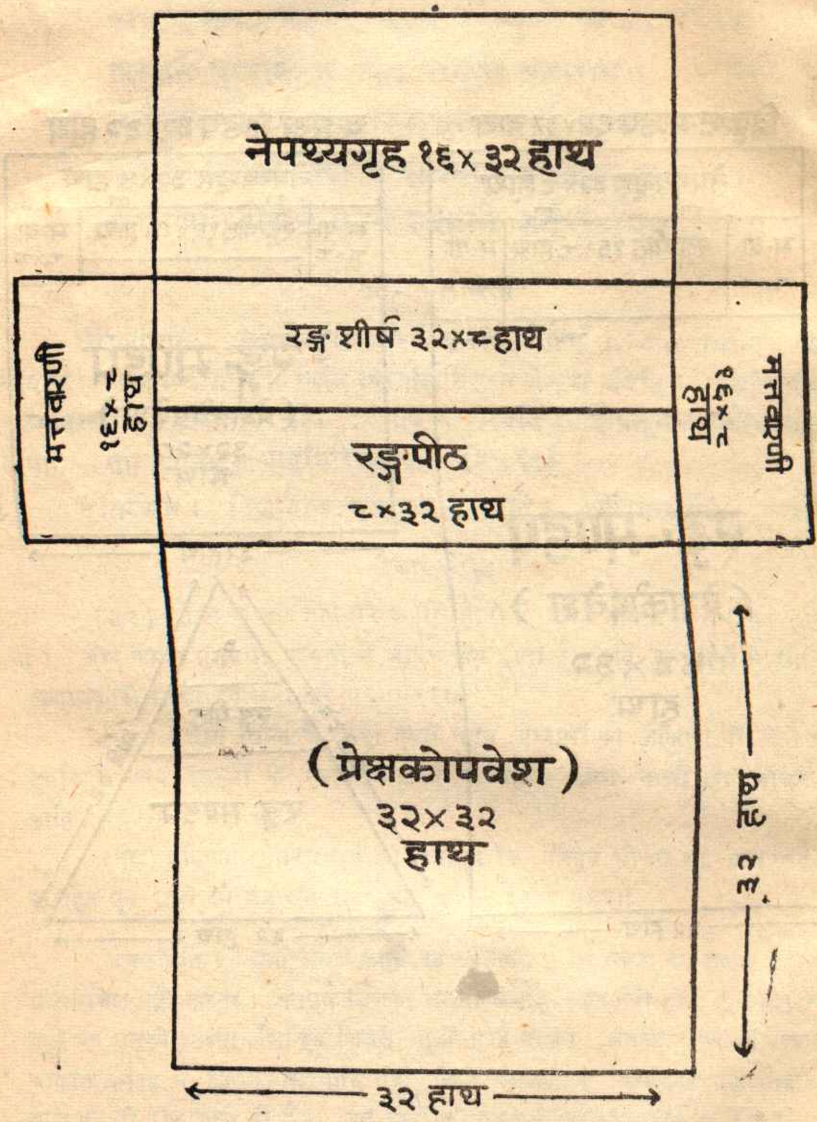


चतुरस्र-मण्डप ३२×३२ हाथ





(२) आयताकार मत्तवारणी -



मन्त्रपूतं च तद्देयं नाट्याचार्येण धीमता ।
पुरोहितं नृपं चैव भोजयेन्मधुपायसैः ॥६३॥
कर्तॄनपि तथा सर्वान्कृसरां लवणोत्तराम् ।
सर्वमेवं विधिं कृत्वा सर्वातोद्यैः प्रवादितैः ॥६४॥
अभिमन्त्र्य यथान्यायं स्तम्भानुत्थापयेच्छुचिः ।
यथाऽचलो गिरिर्मेरुर्हिमवांश्च महाबलः ॥६५॥
जयावहो नरेन्द्रस्य तथा त्वमचलो भव ।
स्तम्भद्वारं च भित्तिं च नेपथ्यगृहमेव च ॥६६॥
एवमुत्थापयेत्तज्ज्ञो विधिदृष्टेन कर्मणा ।
रङ्गपीठस्य पार्श्वे तु कर्तव्या मत्तवारणी ॥६७॥

अभिनवभारती

मन्त्रस्तमाह—यथेति । प्रणवनमस्कारमध्यवर्ती चायं पठितव्य इति वास्तुविद्याविदः । अचलो भवेति अपूर्वविधिः । तेन तदनुवादेन जयावहो भवेत्यस्य न पौनरुक्त्यम् । एवमिति । तेन भित्तौ स्त्रीत्वेन गृहे नपुंसकत्वेनोहः कार्यः । पार्श्वे इति । विशेषानुपादानात्तयोस्तुल्यम् (ना.शा. २-६५) इति च द्विवचनाल्लिङ्गाद्भाविनोर्द्वयोः पार्श्वयोरिति लभ्यते । (६५-६७)

बालक्रीड़ा

(मूल) सभी कारीगरों को नमकीन खिचड़ी खिलावे। इस तरह सब विधियां सम्पन्न करके सभी तरह के बाजे बजवाने चाहिए ॥६४॥

(मूल) यथा विधि स्तम्भ को अभिमंत्रित करके पवित्र करे ॥६५॥

(मूल) जैसे सुमेरु पर्वत अचल है एवं हिमवान् जैसे अचल है, स्थिर है वैसे तुम भी हे स्तम्भ ! अचल होवो और राज की विजय करो ॥६६॥

(मूल) इस प्रकार शिल्पशास्त्रवेत्ता शिल्प शास्त्र की विधि के अनुसार स्तम्भद्वार, भित्ति, एवं नेपथ्य गृह को बनावे ॥६७॥

(मूल) रङ्गपीठ के पार्श्व भाग में रङ्गपीठ प्रमाणानुसार चार स्तन्भों वाली

करके की गई "जयावहो भव" यह गुण विधि है अतः भव की पुनरुक्ति नहीं कही जायगी। एवं इसी प्रकार भित्ति में स्त्रीत्व और गृह में नपुंसकत्व के अनुसार क्रमशः अचला भव जयावहा भव तथा अचलं भव जयावहं भव यह ऊहकर लेना चाहिए। "पार्श्वे" इति। यहाँ मूल श्लोक में "पार्श्वे" इस एकवचन का उपन्यास किया है और दायें तथा बाँयें पार्श्व का विशेष रूप से उपादान भी नहीं किया है। किन्तु आगे ६५ वें श्लोक में "तयोस्तुल्यम्" में तयोः इस द्विवचन का उपन्यास किया है। इसलिए द्विवचन रूप लिंग के आधार पर "रंगपीठ के" भावी दोनों पार्श्वों में यह अर्थ स्वतः प्राप्त हो गया।६५।६७।

चतुःस्तम्भसमायुक्ता रङ्गपीठप्रमाणतः ।
अध्यर्धहस्तोत्सेधेन कर्तव्या मत्तवारणी ॥६८॥
उत्सेधेन तयोस्तुल्यं कर्तव्यं रङ्गमण्डपम् ।
तस्यां माल्यं च धूपं च गन्धं वस्त्रं तथैव च ॥६९॥
नावर्णानि देयानि तथा भूतप्रियो बलिः ।
पायसं तत्र दातव्यं स्तम्भानां कुशलैरधः ॥७०॥

अभिनवभारती

स्तम्भाश्चत्वारः बहिर्मण्डपान्निष्कासनं कृत्वा ध्रियन्ते मण्डपक्षेत्राद्बहिः। तेन भित्तिच्छेदावधौ स्तम्भद्वयम्। ततोऽपि बहिर्भित्तेरष्टहस्तान्तरस्तम्भापेक्षयाऽप्यष्टहस्तान्तरं स्तम्भद्वयमित्येतावदित्यष्टहस्तविस्तारा समचतुरश्रा मत्तवारणी भवति। आयामस्तु प्रमाणमिति ये वदन्ति तेषां मते दैर्घ्यादष्टहस्तं विस्तारात् षोडशहस्तमित्येवं विकृष्टता रङ्गपीठस्य भवति। अन्येषां हस्तमानोऽत्र यथा रङ्गपीठापेक्षया च सार्धहस्तपरिमाण उच्छ्रायः कार्यो मत्तवारण्याः। तयोरिति द्विवचनं ज्ञापकमेतच्चरितार्थमितीह नापेक्षित इति। तस्या एव यावानुत्सेधस्तावात्रङ्गपीठस्य। तेन

बालक्रीड़ा

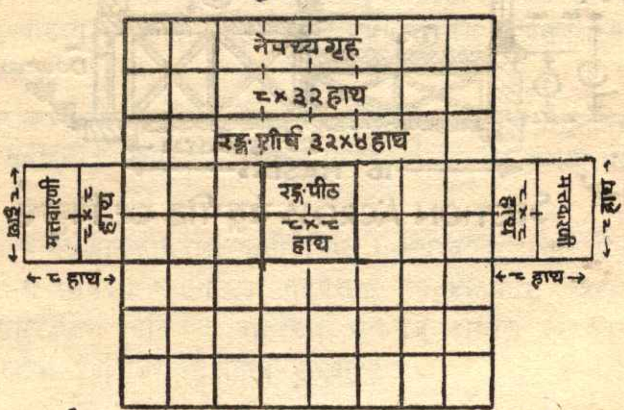
मत्तवारणी (बारहदरी) को बनावे और उस मत्तवारणी का उत्सेध याने ऊँचाई अध्यर्धहस्त अर्थात् जमीन से १२ अंगुल होनी चाहिए ॥६८॥

(मूल) रङ्गपीठ एवं मत्तवारणी दोनों की ऊंचाई के बराबर रङ्ग मण्डय बनाना चाहिए। उसको नाना रंग की सुगन्धित मालाओं एवं साधारण मालाओं तथा वस्त्रों से सजाये। और अदृश्य भूतों को प्रसन्न करने के लिए बलि देना चाहिए। इसमें खम्भों के अधः प्रदेश में बुद्धिमानों को पायस छोड़ना चाहिए ॥६९॥७०॥

मण्डप से बाहर अर्थात् जिस क्षेत्र में मण्डप बनाया है उस क्षेत्र के बाहर निकालकर मत्तवारणी के चारों खम्भों को रखना चाहिए। इसका अर्थ हुआ कि जहाँ भित्ति का छेद याने समाप्ति होती है वहाँ पर दो खम्भे बनाये जायँ। उसके भी आगे भित्ति के बाहर आठ हाथ के अन्तर पर खड़े किये गये खम्भे की अपेक्षा आठ हाथ के अन्तर पर दो खम्भे और खड़े करने चाहिए। इस तरह आठ हाथ चौड़ी समान चतुरस्र मत्तवारणी बारहदरी होती है। जो तो कहते हैं कि विस्तार आयाम ही प्रमाण है उनके मत में लम्बाई में आठ हाथ की, औंर चौड़ाई में सोलह हाथ की विकृष्टता रंगपीठ की होती है। दूसरों के मत में हाथ का प्रमाण ऐसा है। जैसे रंगपीठ की अपेक्षा डेढ़ हाथ ऊँचा परिमाण मत्तवारणी का करना चाहिए। तयोः यह ज्ञापक चरितार्थ हो चुका है। इसका फल पार्श्वे शब्द की व्याख्या में कह दिया गया है अतः यहाँ इसकी अपेक्षा नहीं है। जितनी ऊँचाई मत्तवारणी की होगी उतनी ऊँचाई रंगपीठ की भी। इससे मूल भूभाग की अपेक्षा डेढ़ हाथ ऊँचे प्रमाण वाला रंगपीठ होता है यह बात कही गई। इससे यह भी सूचित हो गया कि मत्तवारणी की ऊँचाई को देखने से रंगपीठ

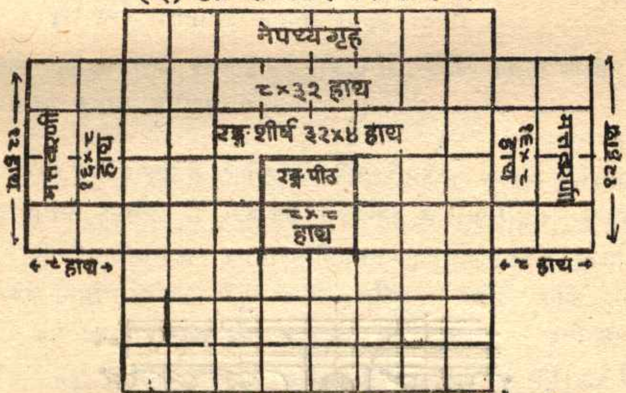
अभिनवगुप्तके अनुसार मत्तवारणी कीदो स्थितियां

(१) समचतुरस्त्र मत्तवारणी



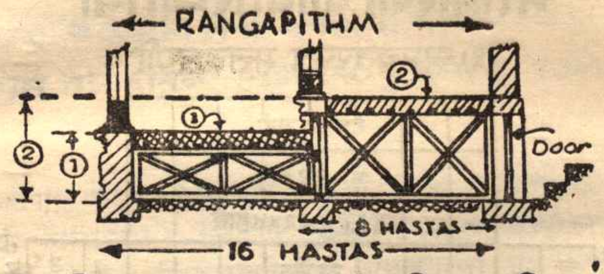
'अष्टहस्त विस्तीरा समचतुरस्त्रा मत्तवारणीभवति'

(२) आयताकार मत्तवारणी –

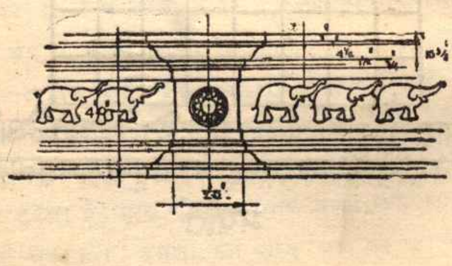


आयामस्तु प्रमाणमिति येवदन्ति तेषांमते दैर्घ्यदिष्ट-
हस्ता विस्ताराच्चोडशहस्ताइत्येवं विकृष्टता मत्तवारण्या
भवति

षड्दारुकका चित्र



SECTION ACROSS रंङ्गपीठ OF विकृष्टं



भोजने कृसराश्चैव दातव्यं ब्राह्मणाशनम्।
एवं विधिपुरस्कारैः कर्तव्या मत्तवारणी ॥७२॥ ६७
रङ्गपीठं ततः कार्यं विधिदृष्टेन कर्मणा।
रङ्गशीर्षन्तु कर्तव्यं षड्दारुकसमन्वितम् ॥७३॥ ६८

अभिनवभारती

अग्रभूभागापेक्षया सार्धहस्तप्रमाणोन्नतं रङ्गपीठमित्युक्तं भवति। तेन मत्तवारण्यालोकेन नात्यर्थं रङ्गपीठस्य दुष्प्रेक्षता। एतच्चोत्सेधेनेत्येकवचनेन सूचितम्। अन्यथोत्सेधाभ्यामित्युच्येत।

माल्यधूपाद्यत्र निर्माणकाल एव देयम्। तदधिष्ठातॄणां भूतादीनामुग्रत्वेन यत्नोपचरणीयत्वात्। तदाह—विधिपुरस्कारैरिति। पुरस्कारशब्देन विधिर्वास्तुशास्त्रोक्तः। (६८-७२)।

रङ्गपीठे कार्ये रङ्गशिरस्तावदाह-रङ्गशीर्षमिति। नेपथ्यगृहभित्तिलग्नौ स्तम्भावष्टहस्तान्तरावन्योन्यं निवेश्य तयोर्यन्मुखं तदपेक्षया चतुर्हस्तान्तरं स्तम्भद्वयम्। तेषामधस्तनं काष्ठमुपरितनं चेति षड् दारूणि। यत्र षड् दारूणि तत्षड्दारुकम्। संज्ञायां कन्। तत्तेन विचित्ररचनोपेतत्वं लभ्यते।

बालक्रीड़ा

(मूल) इस प्रकरण में ब्राह्मणों को खिचड़ी खिलावे इस तरह की वास्तुविद्या में कथित विधि को पुरःस्कृत करके मत्तवारणीं बनानी चाहिए ॥७२॥

(मूल) इसके बाद शास्त्र की बतलाई हुई प्रक्रिया से रंगपीठ बनाना चासिए। रंग शीर्ष को छ छ खम्भे का बनाना चाहिए ॥७३॥

दुःप्रेक्ष्य हो जायगा ऐसी स्थिति नहीं है रंगपीठ भी दिखाई पड़ेगा अत्यन्त दुःप्रेक्षता उसकी नहीं होगी। यह सूचना उत्सेधेन में दिये हुए एकवचन से मिली है। अन्यथा यदि ऐसी भावना नहीं होती तो उत्सेधाभ्याम् इस तरह द्विवचन का प्रयोग करते। माला एवं धूप वगैरह का प्रदान इसके निर्माण के समय में ही करना चाहिए। क्योंकि उनके अधिष्ठात्री देवता भूतादि उग्र हैं अतः प्रयत्न के साथ उनका उपचार होना चाहिए। उसी को कहते हैं विधिपुरस्कारैरिति। यहां पुरस्कार शब्द के उपादान से वास्तु शास्त्र में कहीं हुई विधि का ग्रहण करना चाहिए।६८।७२।

अब रंगपीठ को बनाना है अतः पहले रंग के शीर्ष भाग को बतलाते हैं—रंगशीर्षमिति। नेपथ्यघर की दिवाल से लगे हुए दो खम्भों को एक दूसरे से आठ हाथ के अन्तर में खड़े करके उनका जो मुख है अग्र भाग है उसकी अपेक्षा से चार हाथ के अन्तर में दो खम्भों को खड़ा करे। उनके नीचे के एवं उनके ऊपर के चार काष्ठ। जहाँ ६ काष्ठ हो उसे षड्-दारुक कहते हैं। यहाँ संज्ञा में कन् हुआ है। इससे यह प्राप्त होता है कि रंगशीर्ष की

कार्यं द्वारद्वयं चात्र नेपथ्यगृहकस्य तु ।
पूरणे मृत्तिका चात्र कृष्णा देया प्रयत्नतः ॥७४॥ ६८
लाङ्गलेन समुत्कृष्य निर्लोष्टतृणशर्करम् ।
लाङ्गले शुद्धवर्णौ तु धुर्यौ योज्यौ प्रयत्नतः ॥७५॥ ७०

अभिनवभारती

अन्ये तु—

पार्श्वद्वयोर्ध्वाधरदारुमण्डितं स्तम्भद्वयोपेतमिहाच्छयातृकम् ।

इति षड्दारुकमाहुः । अत्र तूहः स्तम्भशिरसो दूरं निर्गतः काष्ठः । प्रत्यूहः ततो विनिर्गता तुला । आकाशे भित्याकारोच्छ्रितकाष्ठः संजवनोपेतः व्यूहः । स्तम्भाश्रिताः सिंहादयो व्यालानुबन्धाश्च नियूहाः । तुलान्तान्निस्सृताः फलकभित्तिमयाः निर्यूहाः । कुहराणि पर्वतपुरनिकुञ्जगह्वररूपाणि समूह इति षड्दारुकम् । अत्र नेपथ्यगृहस्य द्वारद्वयं कार्यम् । एकं दक्षिणतः । अपरमुत्तरतः । तच्च द्वारद्वयमापादितं कूर्पराभिनत्या भवति । तत्पात्राणां विश्रान्त्यै आगच्छतामभिनयार्थं गच्छतां च गुप्त्यै रङ्गस्य शोभायै रङ्गशिरः कार्यम् । सर्वत्र च पक्षे दक्षिणोत्तरगतं द्वारद्वयं पात्राणां प्रवृत्तिभेदकृतात्प्रदक्षिणाप्रदक्षिणप्रवेशत्वात् । शुद्धवर्णौ । शुक्लौ । धुर्यौ दान्तौ । (७३-७५)

बालक्रीड़ा

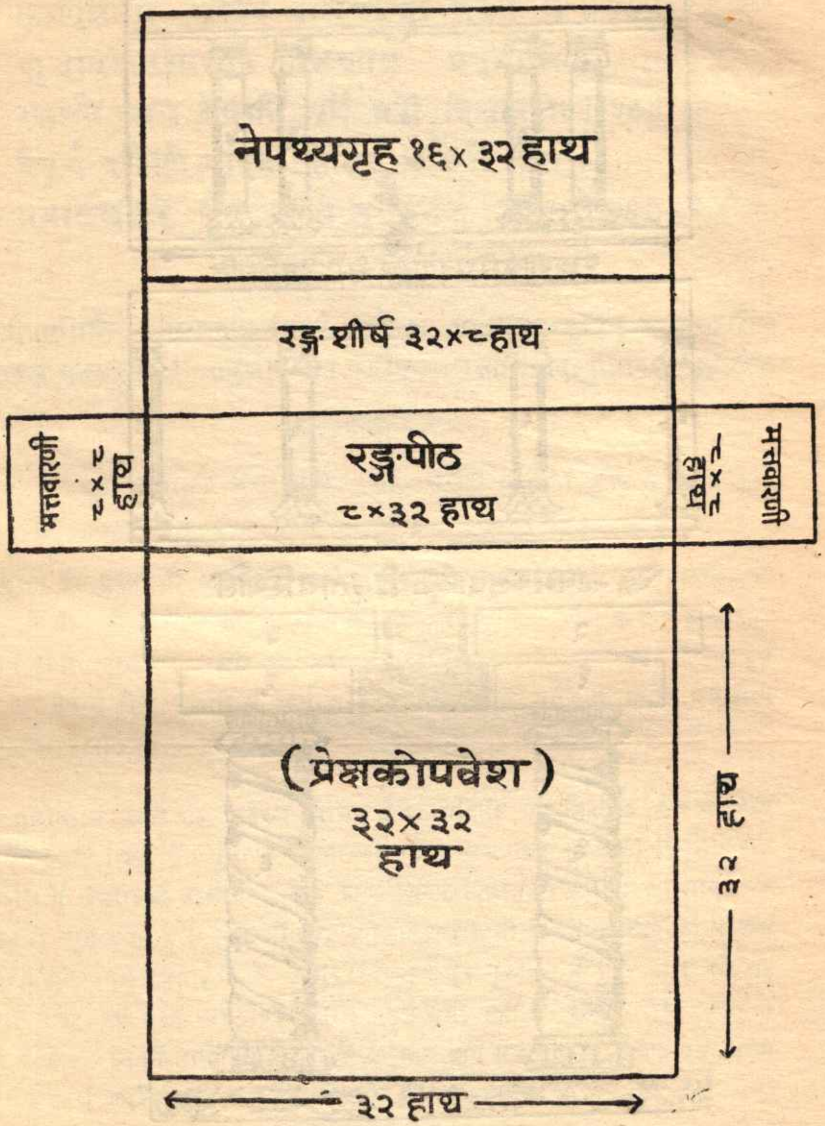
(मूल) नेपथ्य गृह के दो द्वार बनावे । एक उत्तर में और एक दक्षिण में और उसमें निम्नोन्नत प्रदेश के पूरण में काली मिट्टी छोड़नी चाहिए ॥७४॥

(मूल) हल से भूमि का कर्षण करके लोष्ट तृण सर्व शर्करा वालुका को हटा देना चाहिए । हल को चलाने के लिए उसमें श्वेत वर्ण के दो बैल जोतने चाहिए ॥७५॥

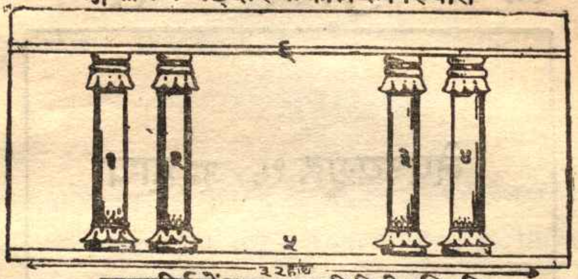
रचना विचित्र तरीके से हुई है । यहाँ नेपथ्य गृह में दो दरवाज़े करने चाहिए । एक दक्षिण में और दूसरा उत्तर में । वे दोनों द्वार कोहनी की तरह अभिनत मुड़े हुए होने चाहिए । उनके घुमावदार बनाने का फल है कि जो पात्र अभिनय करके विश्राम करने के लिए भीतर आ रहें है और जो पात्र अभिनय करने के लिए बाहर रंगस्थल में जा रहे हैं उनको दर्शक लोग नहीं देख पायेंगे । अतः रंग की शोभा के लिए रंगशीर्ष को बनाना चाहिए ।

दूसरे तो षड्दारुक का ऐसा लक्षण कहते हैं कि जो दोनों पार्श्वों में ऊपर तथा नीचे के काष्ठों से सुशोभित हो और जिसमें दो-दो खम्भे खड़े किये गये हो । वह षड्दारुक है इसमें पात्रों का यातायात अच्छा हो सकता है । षड्दारुक की स्पष्ट व्याख्या करते हैं । यहाँ षड्दारुक में ऊह १ प्रत्यूह २ निर्यूह ३ व्यूह ४ संयूह ५ एवं समूह नामक ६ काष्ठ होते हैं । जिनमें ऊह उस काष्ठ को कहते हैं जो खम्भे के शिरे से दूर तक निकला हो ।१। और उस काष्ठ से विनिर्गत बनी हुई तुला प्रत्यूह कहाती है । (नृपाणां दारु बन्धाय पीठिका सा तुला" विश्व, हेमचन्द्र एवं मेदिनी । घरों के निर्माण के लिए लकड़ियों का बन्धन याने रचना जो पीठिका है जिस पर बैठकर एवं खड़े होकर मिस्त्री या कारीगर लोग भवन बनाते हैं उसको तुला

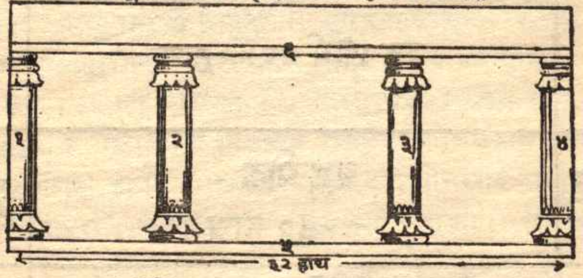
(१) समचतुरस्त्र मत्तवारणी



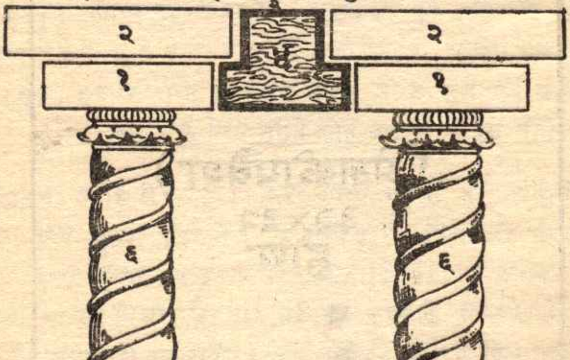
रङ्गशीर्षमें षड्दारुककी प्रथम स्थिति



रङ्गशीर्षमें षड्दारुककी द्वितीय स्थिति



रङ्गशीर्षमें षड्दारुककी तृतीय स्थिति



कर्तारः पुरुषाश्चात्र येऽङ्गदोषविवर्जिताः ।
अहीनाङ्गैश्च वोढव्या मृत्तिका पिटकैर्नवैः ॥७६॥
एवंविधैः प्रकर्तव्यं रङ्गशीर्षं प्रयत्नतः ।
कूर्मपृष्ठं न कर्तव्यं मत्स्यपृष्ठं तथैव च ॥७७॥
शुद्धादर्शतलाकारं रङ्गशीर्षं प्रशस्यते ।
रत्नानि चात्र देयानि पूर्वे वज्रं विचक्षणैः ॥७८॥
वैडूर्यं दक्षिणे पार्श्वे स्फटिकं पश्चिमे तथा ।
प्रवालमुत्तरे चैव मध्ये तु कनकं भवेत् ॥७९॥

अभिनवभारती

कूर्मपृष्ठमिति । समन्ततो निम्नं मध्ये च वर्तुलरूपं मन्दम् । तत्तादृगेव मध्ये दीर्घरूपं मत्स्यपृष्ठम् । तदुभयं नात्र कार्यम् । रत्नानि तदायुधतद्वर्णानुरूपत्वेन

बालक्रीड़ा

(मूल) उसको संचालन करने वाले पुरुष, शरीर सम्बन्धि दोष से रहित होने चाहिए ॥७६॥

(मूल) इस प्रकार के प्रयत्नों से रंग शीर्ष बनावे । कूर्म के पीठ की आकार का तथा मछली के पीठ की आकार का रंग शीर्ष न बनावे किन्तु ठीक दर्पण के तल के आकार का रंग शीर्ष होना चाहिए । उसी की प्रशंसा की गई है । इसमें रत्नों की योजना इस प्रकार करे । पूर्व में हीरा, दक्षिण में वैडूर्य, पश्चिम में स्फटिक, उत्तर में प्रवाल एवं मध्य में सोना ॥७७॥७८॥७९॥

कहते हैं) तुलान्त में अन्त शब्द स्वरूप वाचक है । मेदिनी एवं त्रिकाण्ड शेष में अन्त शब्द का स्वरूप अर्थ लिखा हैं । तुला के स्वरूप को बनाने वाले तख्ते (फलक) निर्यूह कहाते हैं । आकाश में भित्ति के आकार में खड़े काष्ठ जिनके फलस्वरूप संजवन चतुःशाला बन जाती है उनको व्यूह कहते हैं । स्तम्भों पर व्यालानुबन्ध हाथी के साथ सिंहों की मूर्तियाँ जहाँ खुदी रहें उसे संयूह कहते है । पर्वत, पुर, निकुञ्ज एवं गुफारूप में कुहर जहां रहे, वह समूह कहाता है । इस तरह षड्दारुक हुआ । इन सभी पक्षों में दक्षिण और उत्तर में दो दरवाजे रहेंगे । जिनमें पात्रों की प्रवृत्ति के अनुसार दायें एवं बायें से प्रवेश एवं निर्गम होता है । शुद्धवर्ण अर्थात् शुक्ल । धुर्य माने दान्त जो उद्दण्ड न हो ।७३।७५।

चारों तरफ झुका हुआ, मध्यभाग में वर्तुंल गोलाकार छोटा रंगशीर्ष कूर्मपृष्ठ कहाता है । वैसा ही याने चारों तरफ झुका हुआ बीच में लम्बा रंगशीर्ष मत्स्य पृष्ठ कहाता है । ये दोनों प्रकार के रंगशीर्ष यहाँ नहीं बनाने चाहिए । किन्तु आदर्श-तल के आकार वाला सम बराबर सल वाला बनाना चाहिए । उनके आयुध और वर्णो के अनुरूप योग्यता के साथ

एवं रङ्गशिरः कृत्वा दारुकर्म प्रयोजयेत् ।
ऊहप्रत्यूहसंयुक्तं नानाशिल्पप्रयोजितम् ॥८०॥
नानासञ्जवनोपेतं बहुव्यालोपशोभितम् ।
ससालभञ्जिकाभिश्च समन्तात्समलङ्कृतम् ॥८१॥
निर्यूहकुहरोपेतं नानाग्रथितवेदिकम् ।
नानाविन्याससंयुक्तं चित्रजालगवाक्षकम् ॥८२॥
सुपीठधारिणीयुक्तं कपोतालीसमाकुलम् ।
नानाकुट्टिमविन्यस्तैः स्तम्भैश्चाप्युपशोभितम् ॥८३॥

अभिनवभारती

यथायोगम् । कृत्वेति । पूर्वं विभज्य बुद्धयेति यावत् । दारुकर्मेत्युक्तं विभजति—ऊहप्रत्यहसंयुक्तमित्यादिना स्तम्भैश्चाप्युपशोभितमित्यन्तेन । अनेकसालभञ्जिकाः काष्ठमय्यः कान्तप्रकृतयः । नानाकृतिभिर्ग्रथिता वेदिकाश्चतुरश्रिका यत्र । चित्राणि जालानि चतुरश्राष्टाश्रच्छिद्ररूपाणि गवाक्षाणि च वर्तुलच्छिद्रात्मकानि यत्र । पीठानि स्तम्भोपरि । तेषु धारिण्यस्तुलाः । कपोताली विटङ्कपाली । कुट्टिमस्य नानात्वं रङ्गशिरोरङ्गपीठमत्तवारणीद्वयभेदात् । सर्वत्र तथाविधदारुकम् । रक्तसितनीलपीतादिभेदाद्वा । अत्रोहप्रत्यूहावन्वयव्यतिरेकतर्कोपयोगिनौ केचिदाहुः । (७६-८३)

बालक्रीड़ा

(मूल) इस प्रकार रंग शीर्ष को वनाकर दर्वाजों में लकड़ी का काम अर्थात् उनमें कपाटों को बनवावे । पल्लों के बनवाने में नाना प्रकार की कारीगरी के लिए ऊहापोह करे । अनेक प्रकार की कारीगरी के लिए ऊहापोह करे । अनेक प्रकार के सञ्जवन अर्थात् चौशालाओं से युक्त, तथा किसी धातु के या पाषाण वगैरह के वहुत से हाथी एवं शेरों की मूर्तियों से सजावे और चारों तरफ से उसको पुत्तलियों से अलंकृत करे । निर्यूह याने लघु द्वार, कुहर याने मोखे, और नाना प्रकार की वेदियां, और भिन्न २ शैली के विन्यास वाले यन्त्र तथा जालों वाले झरोखे उसमें बनवाले । सुन्दर बैठने की जमीन बनावे. कपोत पंक्तियों के बैठने को सुन्दर पीठिका बनवावे । सुन्दर फर्श की रचना करावे और खम्भों से सजावे इस प्रकार लकड़ीका काम समाप्त करके दिवाल के ऊपर रचना करे । जैसे खूटियाँ वगैरह की शैलियों से योजना ॥८०॥८१॥८२॥८३॥८४॥

रत्नों का उपन्यास करना चाहिए । जैसे वज्र इन्द्र का आयुध है । कृत्वेति । बुद्धि पूर्वक लकड़ियों को विभक्त करके दारुकर्म करना है जो कह दिया । ऊह प्रत्यूह संयुक्तं इत्यादि से स्तम्भैश्चाप्युपशोभितम् पर्यन्त उसका विभाग करते हैं । अनेक प्रकार की काष्ठमयी सुन्दर पुतलियाँ बनी होनी चाहिए । चित्र जाल अर्थात् चतुरश्र एवं अष्टाश्र छिद्र वाले गवाक्ष झरोखे जिनमें गोल-गोल बहुत से छिद्र रहते हैं । स्तम्भों के ऊपर पीठ बनी होनी चाहिए । धारिणी उन पर बनी हुई तुलाएँ । कपोताली कपातों के बैठने

एवं काष्ठविधिं कृत्वा भित्तिकर्म प्रयोजयेत् ।
स्तम्भं वा नागदन्तं वा वातायनमथापि वा ॥८४॥
कोणं वा सप्रतिद्वारं द्वारविद्धं न कारयेत् ।
कार्यः शैलगुहाकारो द्विभूमिर्नाट्यमण्डपः ॥८५॥

अभिनवभारती

सप्रतिद्वारम् द्वारेण विद्धं परस्परसंमुखीभूतमध्यं न कुर्यात्। नागदन्तं स्तम्भोर्ध्वनीचस्थं शंकुं पुत्रिकाधारणार्थं गजमुखमिति केचित्। द्वे भूमी रङ्गपीठस्याधस्तनोपरितनरूपेणेति केचित्। मण्डपभित्तेर्बहिर्निर्गतमत्तवारणीप्रमाणेन सर्वतो द्वितीयभित्तिनिवेशेन देवप्रासादाट्टालिका प्रदक्षिणसदृशी द्वितीया भूमिरित्यन्ये। उपरि मण्डपान्तरनिवेशनादित्यपरे। अद्विभूमिरित्येके। उपाध्यायास्तु वीप्सागर्भं व्याचक्षते। द्वे द्वे भूमी यत्र निम्नाते ततोऽप्युन्नता इति क्रमेण रङ्गपीठनिकटा त्भृति द्वारपर्यन्तं यावद्रङ्गपीठोत्सेधतुल्योत्सेधा भवति। एवं हि परस्परानाच्छादनं

बालक्रीड़ा

(मूल) तिकोना या सप्रतिद्वार अर्थात् अवान्तर द्वारवाला तथा द्वारविद्ध अर्थात् जिसका मध्यभाग परस्पराभिमुख हो ऐसा द्वार नहीं बनाना चाहिए और पर्वत की गुहा के आकार का द्विभूमि अर्थात् दो आंगन वाला नाट्य मण्डप बनावे ॥८५॥

की वेदिकाएँ। रंगशीर्ष, रंगपीठ एवं दोनों मत्तवारणियों के अनुसार नाना प्रकार के फर्श उनमें बने रहने चाहिए। उनमें वैसी ही लाल, सफेद, नील एवं पीत रंगवाली लकड़िया रहेगी। यहाँ कोई कहते हैं कि ऊह और प्रत्यूह का अर्थ है अन्वय एवं व्यतिरेकी तर्क के उपयोगी पदार्थ।७६।८३।

प्रत्येक द्वार के साथ एक-एक अवान्तर द्वार होना चाहिए। जो द्वार से विद्ध याने सप्रतिद्वार तथा जिसका मध्य भाग एक दूसरे के संमुख हो ऐसा नहीं बनाये। नागदन्त खम्भे के ऊपर या नीचे के हिस्से में लगा हुआ शंकु याने खूँटी। कोई कहते हैं कि पुतलियों के टांगने के लिए गजमुख को नागदन्त कहते हैं। नाट्यमण्डप को द्विभूमि बनाना चाहिए। जिसमें एक भूमि रंगपीठ के ऊपर, दूसरी रंगपीठ के नीचे। ऐसा कोई मानते हैं। मण्डप की दिवाल से बाहर निकली हुई मत्तवारणी के प्रमाण के अनुसार सभी तरफ दूसरी भित्तियों का सन्निवेश है। उस सन्निवेश के कारण देव प्रासाद की अट्टालिकाओं के प्रदक्षिण की जैसी जहाँ दूसरी भूमि रहे उसको द्विभूमि अन्य लोग कहते हैं। अपर लोग कहते हैं कि मण्डप के ऊपर दूसरा मण्डप बनाने से द्विभूमि दो मंजिला होता है। एक ऐसे हैं जो शैलाकारोऽद्विभूमि पद में अकार का प्रश्लेष करते हैं। अतः उनके अनुसार एक भूमि होता है। उपाध्याय जी तो द्विभूमि के भूमिगत द्वित्व को वीप्सार्थक मानकर व्याख्या करते हैं। कि जहाँ निम्नात अर्थात् निम्न नीची होने से अत सातत्येन जल्दी से गमन हो सकता है ऐसी दो-दो भूमियाँ रहें। उसके बाद ऊँची जो क्रम से रंगपीठ के समीप से लेकर दरवाजे

मन्दवातायनोपेतो निर्वातो धीरशब्दवान् ।
तस्मान्निवातः कर्तव्यः कर्तृभिर्नाट्यमण्डपः ॥८६॥
गम्भीरस्वरता येन कुतपस्य भविष्यति ।
भित्तिकर्मविधिं कृत्वा भित्तिलेपं प्रदापयेत् ॥८७॥
सुधाकर्म बहिस्तस्य विधातव्यं प्रयत्नतः ।
भित्तिष्वथ विलिप्तासु परिमृष्टासु सर्वतः ॥८८॥

अभिनवभारती

सामाजिकानाम् । शैलगुहाकारत्वं स्थिरशब्दादित्वं भवति । मन्दत्वं वातायनानां जालकपाटयोगात्कार्यम् । कुतपः संफेटकगायकवादकसमूहः । कुर्नाट्यभूमिस्तां तपति उज्ज्वलयतीति कृत्वा । कुतं शब्दं पातीत्यन्ये । गम्भीरत्वं तत्रैव शब्दस्य भ्रमणादन्योन्यप्रतिश्रुतिकारसमारम्भसम्पूर्णाच्च । भित्तिलेपो भग्नशङ्खवालुकाशुक्तिका-

बालक्रीड़ा

(मूल) मन्द मन्द वायु के संचार वाला, या बात शून्य नाट्य मण्डप बनाना चाहिए। मन्द वात या निर्वात मण्डप होने से शब्द का श्रावणप्रत्यक्ष बड़ी धीरता से होता है अतः निवात अर्थात् वात रहित नाट्य मण्डप बनवाना चाहिए ॥८६॥

(मूल) निर्वात बनाने से कुतप याने वाद्य के स्वर में गम्भीरता एवं सुस्वरता हो जाती है। भित्ति रचना का सम्पादन कराके भित्ति में लेप करवावे ॥८७॥

(मूल) जिसमें पहले भित्ति पर प्रयत्न के साथ सुधा याने चूने का लेप करवावे यह भित्ति का बाह्य लेप है। भित्तियों का पूर्ण लेप करवा देने पर उनको सब तरह से परिमार्जित करवा दे ॥८८॥

तक जितनी रंगपीठ की ऊँचाई है उसी के तुल्य ऊँचाई वाली। इस तरह की भूमि के कारण दर्शक सामाजिकों में एक दूसरे के द्वारा एक दूसरे का आच्छादन आवरण नहीं होगा। शैल की गुहा के आकार वाला कहने का अभिप्राय है स्थिर शब्दत्व अर्थात् उसमें शब्द गूँजेगा नहीं। झरोखों की मन्दता को जालियों में किवाड़ लगाकर की जा सकती है। कुतप संफेटक (सम्फेटोऽन्योन्यभाषणम्) परस्पर में बातचीत करने वाला, गायन (गाने वाला कर्ता में ल्युट है) वादकों के समूह को कहते हैं। कुतप का ऐसा अर्थ करने में मूल योगार्थ को बतलाते हैं। कु माने नाट्य भूमि। उसको जो तपाता है उज्जवल करता है वह कुतप है। सम्फेटक, गायक एवं वादकों से नाट्य मण्डप की शोभा होती है। अन्यों का आशय है कि कुत शब्द की जो रक्षा करे वह कुतप है। स्वर की गम्भीरता, शब्द के उसी जगह में घूमने तथा एक दूसरे का एक दूसरे को प्रत्युत्तर देने में शब्द के समारम्भ समुच्चारण से पूर्णता होने से है। भग्नशंख की बालुका एवं शुक्ति के चूर्ण से भित्तियों पर लेप होना चाहिए। लताबन्ध माने द्रुम एवं लता आदि का रचनाविशेष से सन्निवेश। यहाँ द्रुमलतादि की जगह

समासु जातशोभासु चित्रकर्म प्रयोजयेत् ।
चित्रकर्मणि चालेख्याः पुरुषाः स्त्रीजनास्तथा ॥८९॥
लताबन्धाश्च कर्तव्याश्चरितं चात्मभोगजम् ।
एवं विकृष्टं कर्तव्यं नाट्यवेश्म प्रयोक्तृभिः ॥९०॥
पुनरेव हि वक्ष्यामि चतुरश्रस्य लक्षणम् ।

अभिनवभारती

लेपः । लताबन्धा द्रुमलतादिबन्धसन्निवेशा वा माल्त्यादिलतागतातोद्यवेष्टनवैचित्र्यप्रकारा वा वक्ष्यमाणपिण्डीबन्धप्रकारविशेषाश्च । एतदुपसंहरति—एवं विकृष्टमिति । (८४-९०) ।

यद्यपि समचतुरश्रोऽत एव शक्य ऊहितुं तथापि विस्पष्टार्थं वक्ष्यामीत्याशयेन पुनःशब्देनोपक्रमते-पुनरेवेति । ननु विकृष्टे स्तम्भविभागरङ्गयोजनादि नोक्तं तत्कथं प्रतिपत्तव्यमित्याशङ्कायामावृत्त्याऽनेनैवोत्तरं—चतुरश्रसम्बन्धि यल्लक्षणं तत्पुनर्यस्माद्वक्ष्यामो यदस्य विकृष्टस्य सम्बन्धित्वेन तस्मान्नापूर्णं विकृष्टलक्षणम् । तथा यदस्य लक्षणमुक्तं तच्चतुरश्रेऽपि सञ्चारणीयमिति पुनश्शब्देन दर्शयति । तेनातिदेशमनाग-

बालक्रीड़ा

(मूल) भित्तियों का ऊँचा नीचापन सब दूर करने से जब समीकरण हो जाय और जब उनमें स्वच्छता से शोभा सुन्दरता मालूम होने लगे तब उन पर चित्र बनवावे । चित्रों में स्त्री एवं पुरुषों का उल्लेख करवावे ॥८९॥

(मूल) लताओं का तथा प्राणियों के अनुभूत चरित का चित्रण उस भित्ति पर रहना चाहिए । इस प्रकार अधिकारियों को विकृष्ट नामक नाट्य वेश्म की रचना करानी चाहिए ॥९०॥

(मूल) इसके बाद चतुरश्र नाट्य मण्डप का लक्षण कहूँगा । चारों तरफ से उसका माप ३२ हाथ होने चाहिए ॥९१॥

पाठान्तर है द्रमिडादि । उसका अर्थ द्रमिड या द्रविड़ जातियों में एक बन्ध विशेष होता है उसी के अनुसार सन्निवेश माने बैठना है । या मालती आदि लताओं से वाद्यों के वेष्टन की विचित्र शैलियाँ । या आगे कही जाने वाली पिण्डियों के रचना की शैलियाँ । अब इसका उपसंहार करते हैं कि इस प्रकार विकृष्ट को बनावे । एवं विकृष्टं कर्तव्यं नाट्यवेश्म प्रयोक्तृभिः । इस बतलाई हुई प्रक्रिया के द्वारा अभिनय कर्त्ताओं को विकृष्ट नाट्यमण्डप बनाना चाहिए ।८४।९०।

एक जगह जो बात बतला दी गई है उसी तरह अन्यत्र भी उसको समझना चाहिए । (एकत्र निर्णीतः शास्त्रार्थः अन्यत्र फलभाग् भवति) अतएव इस न्याय के अनुसार यद्यपि मध्यम एवं चतुरश्र को भी समझा जा सकता है । तद्यपि स्पष्ट जानकारी के लिए कहूँगा इस आशय से पुनः शब्द के द्वारा उपक्रम करते हैं । पुनरेवेति ।

समन्ततश्च कर्तव्या हस्ता द्वात्रिंशदेव तु ॥९१॥
शुभभूमिविभागस्थो नाट्यज्ञैर्नाट्यमण्डपः ।
यो विधिः पूर्वमुक्तस्तु लक्षणं मण्डलानि च ॥९२॥
विकृष्टे तान्यशेषाणि चतुरश्रेऽपि कारयेत् ।
चतुरश्रं समं कृत्वा सूत्रेण प्रविभज्य च ॥९३॥
बाह्यतः सर्वतः कार्या भित्तिः श्लिष्टेष्टका दृढा ।

अभिनवभारती

तापेक्षणाख्यं तत्र योजयति । चतुरश्रमाह-समन्तत इति । सर्वेष्वन्तेषु चतसृष्वपि दिक्ष्वित्यर्थः । प्रविभज्य चेति । पूर्ववदेवेत्यर्थः । यदि बाह्यतो भित्तिरभ्यन्तरे किमित्याह-तत्राभ्यन्तरत इति । अष्टभिर्भागैः सर्वत क्षेत्रं विभजेत् । येन चतुरङ्ग-फलकवच्चतुष्षष्टिकोष्ठं भवति । तत्र मध्यमकोष्ठकचतुष्के रङ्गपीठं सर्वतोऽष्टहस्तम् । तस्य पश्चिमे भागे प्राक्पश्चिमं द्वादशहस्तं दक्षिणोत्तरतो द्वात्रिंशत्करं तत्क्षेत्रमवशिष्यते । यदवशिष्टं क्षेत्रं तन्मध्याद्रङ्गपीठनिकटगतं प्राक्पश्चिमतश्चतुर्हस्तं विस्तारेण द्वात्रिंशद्धस्तं

बालक्रीड़ा

(मूल) नाटय के जानकारों को चाहिए कि नाटय मण्डप की स्थापना शुभ भूमि के विभाग में करवावे । विकृष्ट की जो बिधि, लक्षण एवं मण्डप पहले कह चुके हैं उसी शैली से चतुरश्र नाटय गृह बनवावे । पहले सूत्र से माप करके चारों कोनों में सम करे उसके बाद उसका विभाग करे ॥९२॥९३॥

(मूल) सब दिशाओं में बाहर से भीतर से भित्ति को दृढ़ बनावे । भीतर में ईंटे एक दूसरे से श्लिष्ट अर्थात् चिपकी रहें ॥९४॥

प्रश्न=ज्येष्ठ विकृष्ट नाट्यमण्डप में स्तम्भविभाग एवं अंगयोजना आदि नहीं कहे हैं तब उनको कैसे समझा जा सकता है । इस आशंका का आवृत्यर्थक इस पुनः शब्द से उत्तर देते हैं । चतुरश्र नाट्यमण्डप सम्बन्ध का जो लक्षण है उसको जब ज्येष्ठ विकृष्ट नाट्य मण्डप के सम्बन्धी के रूप में कहेंगे तब विकृष्ट का लक्षण अधूरा नहीं है । अर्थात् जो इस विकृष्ट का लक्षण कहा है उसका वैसे ही चतुरश्र में भी सञ्चारण कर लेना चाहिए । इसको पुनः शब्द से दिखाते हैं । इससे अनागतापेक्षण जिसमें भविष्य के आदेशों की अपेक्षा रहे ऐसे अतिदेश की उसमें योजना करते हैं । चतुरश्र को कहते हैं समन्ततः । सभी अन्तों में याने चारों दिशाओं में । पहिले की तरह विभाग करके यह समझना चाहिए ।

यदि बाहर की तरफ भित्ति है तब भीतर क्या करना चाहिए, इस पर कहते है कि आठ भागों में सम्पूर्ण क्षेत्र का विभाग करना चाहिए । जिससे चतुरङ्ग चौपड के पट्टे की तरह उसमें चौसठ कोष्ठ हो जाते हैं । वहाँ बीच के चतुष्क में रंगपीठ आठ हाथ का होता है । उसके पिछले हिस्से में पूर्व पश्चिम भाग में १२ हाथ और दक्षिणोत्तर भाग में ३२ हाथ का वह क्षेत्र बच जाता है । इस तरह जो अवशिष्ट क्षेत्र है उसमें रंगपीठ के निकट पूर्व पश्चिम

तत्राभ्यन्तरतः कार्या रङ्गपीठोपरि स्थिताः ॥९४॥
दश प्रयोक्तृभिः स्तम्भाः शक्ता मण्डपधारणे।
स्तम्भानां बाह्यतश्चापि सोपानाकृति पीठकम् ॥९५॥
इष्टकादारुभिः कार्यं प्रेक्षकाणां निवेशनम्।
हस्तप्रमाणैरुत्सेधैर्भूमिभागसमुत्थितैः ॥९६॥
रङ्गपीठावलोक्यं तु कुर्यादासनजं विधिम्।

अभिनवभारती

क्षेत्रांशाद्विभज्य तावत्प्रमाणमेव पश्चिमभागेऽपि षड्दारुकसंस्थानं रङ्गशिरः कुर्यात्। ततोऽपि पश्चिमे तावदेव नेपथ्यगृहम्। एवं स्थिते रङ्गपीठं लक्षयित्वा दश स्तम्भाः षड्दारुकस्तम्भव्यतिरिक्ता देयाः। तत्र कोणचतुष्टये तावच्चत्वारः। तत्राग्नेयस्तम्भाच्चतुर्हस्तान्तरो दक्षिणदिश्येकः स्तम्भः। तथैव नैर्ऋतस्तम्भाद् द्वितीयः। एवमुदीच्यामपि स्तम्भद्वयम्। पूर्वभागे ऐशानाग्निगतात्स्तम्भद्वयाच्चतुर्हस्तान्तरं स्तम्भद्वयमिति षट्। कोणगाश्चत्वार इति ये दश त एव। बहिः सामाजिकासनानि सर्वेभ्यो वा बहिः। अतिसामीप्ये दृष्टिविघातात्। अत एवाह रङ्गपीठावलोकने साधुभूतमिति। अनेन द्विभूमित्वमेवानुसंहितम्।

बालक्रीड़ा

(मूल) दश खम्भे जो मण्डप को धारण करने में समर्थ रहें ऐसे बनवावे। खम्भों के बाहरीं तरफ सीढ़ी के रूप में चढ़ने के लिए पीठ बनावे ॥९५॥

(मूल) पृथ्वी से एक हाथ उंचा दर्शकों के लिए ईंटा और लकड़ौं का पीठ बनाना चाहिए ॥९६॥

में ४ हाथ और चौड़ाई में ३२ हाथ के क्षेत्रांश का विभाग करके उतने ही लम्ब चौड़े प्रमाण वाले क्षेत्र की पश्चिम भाग में भी कल्पना करे। उसके भी पिछले भाग में उतना बड़ा एवं छोटा षड्दारुक संस्थान वाला रंग शिर बनाये। उसके भी पश्चिम भाग में उतना ही छोटा एवं बड़ा नेपथ्य गृह बनाये। ऐसी स्थिति में रंगपीठ को लक्ष्य करके षड्दारुक स्तम्भ से व्यक्तिरिक्त दश स्तम्भ बनावे। उनमें चारों कोनों में चार खम्भे। वहाँ पर आग्नेय स्तम्भ से चार हाथ की दूरी पर दक्षिण दिशा में प्रथम स्तम्भ। उसी प्रकार नैर्ऋत स्तम्भ से चार हाथ की दूरी पर पश्चिम में द्वितीय इसी प्रकार उत्तर में भी दो स्तम्भ। और पूर्व दिशा में ईशान तथा अग्निकोण के स्तम्भों से चार हाथ की दूरी पर दो स्तम्भ इस तरह षट् स्तम्भ हो गये। और कोणों में चार। इस प्रकार जो मिलकर १० होते हैं वे ही दश खम्भे होते हैं। इन दश खम्भों के या सभी खम्भों में जो खम्भे षड्दारुक कहे जाते हैं। या जो खम्भे आगे कहें जायेगें। उनके भी बाहर सामाजिकों के लिए आसन की कल्पना करे। क्योंकि अतिसमीप में दृष्टि का विघात हो जाता है। अर्थात् देखने में सुविधा नहीं होती है। इसीलिए खम्भों के बाहर आसन बनाने से सामाजिकों को रंगपीठ के अवलोकन

षडन्यानन्तरे चैव पुनः स्तम्भान्यथादिशम् ॥९७॥
विधिना स्थापयेत्तज्ज्ञो दृढान्मण्डपधारणे ।
अष्टौ स्तम्भान्पुनश्चैव तेषामुपरि कल्पयेत् ॥९८॥
स्थाप्यं चैव ततः पीठमष्टहस्तप्रमाणतः ।
विद्धास्यमष्टहस्तं च पीठं तेषु ततो न्यसेत् ॥९९॥

अभिनवभारती

अन्तरे स्तम्भविधिमाह—षडन्यानिति । रङ्गपीठस्य दक्षिणतो निवेशितस्तम्भद्वयाच्चतुर्हस्तान्तरौ अन्योन्यमष्टहस्तान्तरौ द्वौ । तत आग्नेयस्तम्भसम्मुखो योऽन्यस्तु पूर्वः स्तम्भः ततश्चतुर्हस्तान्तरं दक्षिणस्तम्भं कुर्यादिति पूर्वन्यस्तानां दक्षिणस्तम्भानां दक्षिणभित्तेश्चान्तराले स्तम्भत्रयम् । एवमुत्तरस्यामपि ।

उपरीति । अधिकानष्टौ दद्यात् । तत्र दक्षिणभित्तेरुदग्भागे चतुर्हस्तान्तरं पूर्वस्थापितस्तम्भाद्भित्तेश्चैकं स्तम्भं दद्यात्पूर्वम् । एवमुत्तरभित्ते र्दक्षिणदिग्भागे । ततः पूर्वभित्तेश्चतुर्हस्तान्तरौ रङ्गभागद्वयानुसारेण द्वौ द्वौ । ततोऽपि चतुर्हस्तान्तरौ द्वावित्यष्टौ ।

विद्धमास्यं मुखं यस्य तत् पद्मादिविरचितं मुखं स्तम्भेष्वष्टहस्तं पीठं निक्षिपेत् ।

बालक्रीड़ा

(मूल) रंग पीठ के प्रमाण को देखकर बैठने के लिए आसनों की कल्पना करे और ६ सुन्दर खम्भों को प्रत्येक दिशा में खड़ा करे ॥९७॥

(मूल) उसके बाद उन छहों खम्भों के ऊपर विधि पूर्वक फिर आठ खम्भों को प्राज्ञ रक्खे जो मण्डप के धारण करने में दृढ़ होवे ॥९८॥

(मूल) विद्वानों को मण्डप के करने के लिए आठ हाथ लम्बी पीठ छत की स्थापना करनी चाहिए । जिसके द्वारा द्वार विद्ध न होनें पावे ऐसी आठ हाथ लम्बी छत को उन पर रखे ॥९९॥

करने में सुविधा होगी । इसी कारण से नाट्यमण्डप को द्विभूमि बनाने का अनुसन्धान किया हैं । बीच के खम्भों का विभाग कहते हैं । रंगपीठ के दक्षिण की तरफ खड़े किये गये दो खम्भों से चार हाथों की दूरी पर दो खम्भें बनाये । जिन खम्भों की दूरी परस्पर में एक दूसरे से आठ-आठ हाथ की हो । उसके बाद आग्नेय स्तम्भ के सम्मुख जो दूसरा पूर्व स्तम्भ है उससे चार हाथ की दूरी पर दक्षिण स्तम्भ को खड़ा करें । इस तरह पहले रक्खे गये दक्षिण स्तम्भ और दक्षिण भित्ति दोनों के बीच में तीन स्तम्भ बनावे । इसी प्रकार उत्तर में भी स्तम्भों को । उनके भी ऊपर की तरफ आठ खम्भे और अधिक बनाये जायँ । उनमें दक्षिण भित्ति के उत्तर भाग में पूर्व स्थापित स्तम्भ और भित्ति के चार हाथ की दूरी पर पहले एक खम्भा बनावे । इसी प्रकार उत्तर भित्ति से चार-चार हाथ की दूरी वाले रंगपीठ के दो हिस्से करे । फिर उनके अनुसार दो-दो खम्भे खड़े करें । फिर उसके बाद चार हाथ की दूरी वाले दो खम्भे, इस तरह आठ खम्भे खड़े करें । जिसका आस्य मुख

अभिनवभारती

विद्धास्यस्योपरि हस्तप्रमाणधारिणीनां तुलानां धारकाः आश्रयाः स्तम्भा इति चतुरश्रे स्तम्भविधिः।

तमेव विकृष्टे त्रिकोणेषु स्वबुद्ध्या योजयेदिति श्रीशङ्कुकाद्याः। अन्ये तु—'अष्टौ स्तम्भान्पुनश्च' इति नेपथ्यगृहविषयानेतानाहुः।

वार्तिककृत्तु—

"अन्तर्नेपथ्यगृहं स्तम्भौ द्वौ पीठकाश्च चत्वारः।
दिक्ष्वन्ये चत्वारो दशैवमुक्ता भवन्त्येते॥
भित्तेः स्तम्भानां च स्यादन्तरमष्टहस्तमेवान्ते।" इति।
चत्वारः पीठगताः पश्चादग्रे च याविह द्वौ द्वौ॥
षट् सान्तरास्तथान्ये कार्या इति शास्त्रतात्पर्यम्।
तेषामष्टावन्येऽप्युपरि निवेश्या य उद्दिष्टाः।
तैरुत्क्षिप्तैरिह तले स्यादालोकः समस्तरङ्गस्य॥
सोपानाकृति पीठकमत्र विधेयं समन्ततो रङ्गे।
येनालोकन सुविधा येष्युपरि गतेषु काष्ठेषु॥ इति॥

अन्येऽपि चैवंविधा बहवः प्रवादा ग्रन्थविस्तरभयान्न लिखिताः।

बालक्रीड़ा

विद्ध हो अर्थात् उसके अग्रभाग में पद्मादि की रचना की गई है ऐसे पीठ को स्तम्भों के ऊपर धरे। और विद्धास्य पीठ के ऊपर आठ हाथ के माप वाली तुलाओं को धारण करने वाले स्तम्भों का आश्रय करें। इस प्रकार चतुरश्र मण्डप के उपयोगी स्तम्भों के स्थापन की विधि समाप्त हुई। उसी विधि को विकृष्ट और त्रिकोण याने त्र्यश्र मण्डप में अपनी बुद्धि से योजना करे। यह श्री शंकुक आदि कहते हैं। दूसरे तो "पुनः आठ खम्भों को" इस वाक्य से नेपथ्य गृह के निर्माण के विषय में इन खम्भों को कहा है।

वार्त्तिक कार तो कहते है कि नेपथ्य गृह के भीतर दो खम्भे, पीठ के लिए चार तथा चारों ओर चार खम्भे इस तरह ये दश खम्भे होते हैं।

उत्तरे दक्षिणे स्तम्भान् दद्यादन्यान् षडन्तरे। उत्तर में तीन एवं दक्षिण में तीन इस तरह भीतर में और ६ खम्भों को देना चाहिए। इस क्रम में दिवाल और स्तम्भों का अन्तर अन्त में आठ हाथ का ही होगा। इन दोनों कारिकाओं का संकलितार्थ है कि चारों कोणों में चार और आगे २ पीछे २ तथा नेपथ्य में दो इस तरह १० तथा अन्तर में ६ और करने चाहिए यह शास्त्र का तात्पर्य है। उनके भी ऊपर आठ और रखने है। पहले उद्देश्य में कह दिये गये हैं। इस तरह स्तम्भों के उत्क्षेप याने विन्यास करने पर समस्त रंग दिखाई पड़ेगा। यहाँ समस्त रंग में निम्नात क्रम से सोपान सीढ़ी के आकार का पीठ बनाना है। जिससे दर्शकों को रंगपीठ में अवलोकन में सुविधा होवे। इस तरह के और भी बहुत से प्रवाद है। व्यर्थ ही ग्रन्थ विस्तृत हो जायगा इस भय से नही लिखे है। यहाँ अब तत्राभ्यन्तरतः इस ८९ के श्लोक से तेषामुपरि इस ९३ के श्लोक तक की उपाध्याय जी के मत के अनुसार व्याख्या करते हैं।

तत्र स्तम्भाः प्रदातव्यास्तज्ज्ञैर्मण्डपधारणे ।
धारणीधारणास्ते च शालस्त्रीभिरलङ्कृताः ॥१००॥ ९५
नेपथ्यगृहकं चैव ततः कार्यं प्रयत्नतः ।
द्वारं चैकं भवेत्तत्र रङ्गपीठप्रवेशनम् ॥१०१॥ ९६

अभिनवभारती

अयं चात्र सार इत्युपाध्यायाः । इह प्रेक्षामण्डपस्य त्रिधा कल्पना कृता । अधोभूमिः, रङ्गपीठं, रङ्ग इति । तेषु चायं स्तम्भविन्यासविधिर्विच्छिद्य उक्तः ।

तथा हि—अधोभूमौ स्तम्भानाह—तत्राभ्यन्तरत इति । विस्तारे द्वादशहस्तायाममेवं च चतुर्हस्तान्तरा दातव्याः । द्वौ स्तम्भौ भित्तिद्वयापेक्षया द्वादशहस्तान्तरावन्योन्यापेक्षया चाष्टहस्तान्तरौ । अन्योन्यं तयोरन्तरं तथा कार्यं येन द्वारविद्धता न भवति । इत्येवं पञ्चतुलासु दश ।

तत्र नियमादष्टस्तम्भा न्यस्यन्ते । ते तु दृढा न्यसनीया इति दर्शयति—तत्र स्तम्भा इति । अथावशिष्टेषु हस्तेषु विधिमाह—नेपथ्यगृहकमिति । रङ्गपीठ-

बालक्रीड़ा

(मूल) उन खम्भों की दृढ़ता के लिए खम्भों के बगल में धारणी लगादे और उन पर शालस्त्री अर्थात् पुत्तलिकाओं की रचना करावे जिससे उनकी शोभा हो जाय ॥१००॥

(मूल) नेपथ्य गृह को प्रयत्न से बनवावे। द्वार एक बनवावे। जिसके द्वारा रंग पीठ

उपाध्याय जी ने यहाँ का यह तत्व बतलाया है कि यहाँ प्रेक्षागृह की तीन प्रकार की कल्पना की है। मध्यभूमि, रंगपीठ और रंग अर्थात् रंगशिर। उनमें अलग २ स्तम्भों के विन्यास की यह विधि कही है। विश्लिष्य। अर्थात् अलग-अलग। तथाहि उस विधि को दिखाते हैं। बहाँ भीतर की तरफ अधोभूमि नीचे की भूमि में स्तम्भों को बतलाते हैं।

विशालता में बारह हाथ की भूमि में चार हाथ के अन्तर में इस प्रकार स्तम्भों को खड़ा कर देवे। दो खम्भे खड़े करें जो दिवाल से बारह हाथ के अन्तर पर होंवे और परस्पर में आठ हाथ के अन्तर में होवे। उन दोनों का परस्पर में अन्तर ऐसा करे जिससे द्वार विद्धता न होने पावे। अर्थात् सामने में खम्भे की रुकावट पड़ जाने से द्वार की शोभा नष्ट नहीं होने पावे। इस प्रकार पाँचों तुलाओं में दश खम्भे खड़े करे। इन दश खम्भों से व्यतिरिक्त भूमि अर्थात् खम्भों से बाहर की तरफ दर्शकों के बैठने की प्रक्रिया को बतलाते हैं। इसकी व्याख्या पूर्ववत् हैं अर्थात् यह प्रक्रिया नयी नही बतलानी है। पहिले जो बतलाई गई है वह प्रक्रिया अब यहाँ भी करनी है। अब रंगपीठ में खम्भों के खड़े करने की विधि को कहते हैं खम्भे इत्यादि। तेषामुपरि से यह कहा कि रंगपीठ के मुख से उपलक्षित नेपथ्यगृह के वायव्य कोण में वारुण दिशा में। रंगपीठ का जो पृष्ठ रंगशिर है उसमें दूसरा स्तम्भ। यहाँ एक बचन कहने से एक ही स्तम्भ प्रतीत होता है। किन्तु मूल में कहा गया है (अष्टौ स्तम्भान् पुनश्चैव तेषामुपरि विन्यसेत्) आठ स्तम्भ। इस विरोध का परिहार करते हैं कि

जनप्रवेशनं चान्यदाभिमुख्येन कारयेत् ।
रङ्गस्याभिमुखं कार्यं द्वितीयं द्वारमेव तु ॥१०२॥

अभिनवभारती

प्रवेशनमिति वचनेनेदमाह—कक्ष्याविभागेन तावत् द्वे द्वारे तेन द्वारमिति जातावेकवचनम् । एकशब्दश्च राश्यभिप्रायेण । राशिकरणे च निमित्तं पात्रप्रवेशोपायनम् । तथा च कक्षाध्याये वक्ष्यति—

"ये नेपथ्यगृहद्वारे मया पूर्वं प्रकीर्तिते । तयोर्भाण्डस्य विन्यासः ।" (ना. शा. १३-२) इति । जनप्रवेशनं च तृतीयद्वारेण नेपथ्यगृहस्य । येन भार्यामादाय नटपरिवारः प्रविशति । अन्यत्तु द्वारमाभिमुख्येन पूर्वस्यां दिशि कुर्यात् । द्वारवृत्त्या सामाजिकजनप्रवेशार्थम् । ननु किमपेक्षमाभिमुख्यम् । कक्ष्यापेक्षयैव पूर्वादिदिगित्युक्तम् । यद् वक्ष्यति च—

'यतो मुखं भवेद्भाण्डद्वारं नेपथ्यकस्य तु ।

सा मन्तव्या तु दिक् पूर्वा नाट्ययोगे विपश्चिता ॥" (ना. शा. १३-११) इति । एवं चतुर्द्वारं नाट्यगृहम् ।

एतत्स्तम्भदशकव्यतिरिक्तायां भूमावासनविधिरित्याह स्तम्भानां बाह्यतश्चापीत्यादि । पूर्ववद्व्याख्येयम् । अथ रङ्गपीठे स्तम्भन्यासमाह—स्तम्भानित्यादि । उपरि रङ्गपीठमुखोपलक्षितस्य नेपथ्यगृहस्य वारुणकोण इत्युक्तं भवति । रङ्गपीठस्य यत्पृष्ठं रङ्गशिरस्तत्र द्वितीयमिति राश्यपेक्षयैकवचनम् । तेन द्वारद्वयमेव रङ्गशिरसि नेपथ्यगतपात्रप्रवेशाय कर्तव्यम् । चकरादन्यप्रवेशार्थम् । जनप्रवेशनद्वारम् । त्रीणि वा कार्याणि मतान्तरे इति सङ्गृहीतं भवति । सर्वग्रहणादन्यूनाधिकत्वमत्र दर्शयन् विकृष्टे स्तम्भानामाधिक्यमभ्यनुजानीते ।

बालक्रीड़ा

में जनता का प्रवेश हो सके। रंग पीठ में जनता का प्रवेश सामने के द्वार से करवावे। अतः रंग पीठ के सामने में दूसरा द्वार बनवाये। चौकोर समतल तथा वेदिकाओं से अलंकृत आठ

जैसे जात्यभिप्राय से एकवचन प्रयोग होता है वैसे ही स्तम्भराशि के अभिप्राय से एकवचन किया है।

इससे सिद्ध है कि रंगशिर में दो दरवाजे करने चाहिए। एक नेपथ्य में आने वाले पात्रों के प्रवेश के लिए और दूसरा नाटक के उपकरणों की व्यवस्था करने वाले जनों के प्रवेश के लिए। चकार से दूसरों के प्रवेश के लिए भी एक द्वार और करना चाहिए इससे "एक मत है कि तीन दरवाजे करने चाहिए" वह मत भी संगृहीत हो जाता है। बाह्यतः सर्वतः कार्या इस ८९ पद्य के अंश में सर्वपद का ग्रहण किया है अतः न्यूनता एवं अधिकता को दिखाते हुए यहाँ विकृष्ट ज्येष्ठ प्रमाण वाले मण्डप में स्तम्भों को अधिक भी कर सकते हैं इसकी आज्ञा आचार्य देते हैं।

अष्टहस्तं तु कर्तव्यं रङ्गपीठं परि स्तृतम् (पीठोपरि स्थितम्)।
चतुरश्रं समतलं वेदिकासमलङ्कृतम् ॥१०३॥
पूर्वप्रमाणनिर्दिष्टा कर्तव्या मत्तवारणी।
चतुःस्तम्भसमायुक्ता वेदिकायास्तु पार्श्वतः ॥१०४॥

अभिनवभारती

रंगपीठं परि। इति। रङ्गोऽत्र तच्छिरः। ततः पीठस्य पृष्ठतो रंगं यावत्परितोऽभितः। परिः कर्मप्रवचनीयो वर्जनद्योतकः। रङ्गपीठं वर्जयित्वा तदभ्यन्तरमण्डपस्य। तत्र द्वात्रिंशद्धस्ते रङ्गपीठे प्रतिकोणस्तम्भा इति चत्वारः। तदनन्तरं स्तम्भद्वयमिति षडप्येते चतुर्हस्तान्तरम्। ततो द्वादशहस्तायामं यदवशिष्यते तत्र चतुर्हस्तायामं द्वात्रिंशद्धस्तविस्तारं यद्रङ्गशिरस्तत्र द्वे तुले दातव्ये। प्रतितुलं चाष्टहस्तान्तरं

बालक्रीड़ा

हाथ का लम्बा चौड़ा रंगपीठ बनवावे। यहाँ वेदिका के पार्श्व भाग में चार खम्भों से युक्त पूर्व निर्दिष्ट प्रमाण वाली मत्तवारणी बनवावे। इस तरह समुन्नत तथा सम रंग शीर्ष करवावे ॥१०१॥१०२॥१०३॥१०४॥

रंगपीठोपरि स्थिताः। रङ्गपीठं परिस्तृतम् इति। इस पद की व्याख्या तीन प्रकार से करते हैं उसके लिए पदच्छेद तीन प्रकार से करते हैं। जरा भी असंगत नहीं है आचार्य प्रमाण हैं। परम्पराप्राप्त शास्त्र है। अतः ठीक है रंग पद का यहाँ अर्थ है रंगशिर। उसके पीठ माने पृष्ठ के परितः अर्थात् अभितः रंग के चारोतरफ। एक अर्थ हुआ।

परि कर्मप्रवचनीय है जिसका अर्थ है वर्जन। अतः रंग पीठ को छोडकर उस भण्डप के भीतर की तरफ। उस ३२ हाथ वाले रंगपीठ के प्रत्येक कोण में स्तम्भ हैं। अतः चार खम्भे होंगे। उसके बाद को और दो खम्भे। इस तरह छ खम्भे। ये चार हाथ के अन्तर में होंगे। जिसके फलस्वरूप छ चौके चौबीस रूपी गणना के अनुसार २४ हाथ की जमीन निकल गई और बची बारह हाथ। उसमें चार हाथ चौड़ा और ३२ हाथ लम्बा जो रंगशिर है उस में दो तुलाये देनी चाहिए। प्रतितुलम् माने उन तुलाओं के अनुसार आठ हाथ के अन्तर पर चार खम्भे नहीं करके आठ खम्भे करने चाहिए इसी लिए चार हाथ के अन्तराल में भी तिरछा अतएव विद्धास्य द्वार बनाना चाहिए। जिससे चित्र तुलित हो जायँ। इसलिए ९३वें का श्लोक कहा कि अष्टौ स्तम्भान् पुनश्चैव तेषामुपरि कल्पयेत्। यह दूसरी व्याख्या हुई। ये दोनों व्याख्यायें आचार्य की बुद्धि से जानें।

अब तीसरी व्याख्या सुनिये। रंग पीठ के ऊपर का भाग अर्थात् शिर। अतः विकृष्ट मण्डप में रंगपीठ की अपेक्षा से रंगशिर को उन्नत बनाना चाहिए कहेंगे। वहाँ नियम से आठ खम्भों को रखते हैं।

समुन्नतं समं चैव रङ्गशीर्षं तु कारयेत् ।
विकृष्टे तून्नतं कार्यं चतुरश्रे समं तथा ॥१०५॥
एवमेतेन विधिना चतुरश्रं गृहं भवेत् ।
अतः परं प्रवक्ष्यामि त्र्यश्रगेहस्य लक्षणम् ॥१०६॥

अभिनवभारती

स्तम्भचतुष्टयं वर्जयित्वेत्यष्टौ भवन्ति । अत एव हि विद्वास्यमष्टहस्तं चतुर्हस्तान्तरालेऽपि तिरश्चीनं देयम् । येन तुलितं चित्रं भवति । रंगपीठोपरीति । रङ्गपीठस्य यदुपरि शिरोरूपमित्यर्थः । तथा च विकृष्टमण्डपे रङ्गपीठापेक्षया रङ्गशिर उन्नतं वक्ष्यते ।

बालक्रीड़ा

(मूल) विकृष्ट को भी उन्नत, चतुरश्र एवं सम बनवावे । इस विधि से चतुरश्र गृह होता है ॥१०५॥

(मूल) अब त्र्यस्र अर्थात् तिकोने मण्डप का लक्षण कहता हूँ ॥१०६॥

वे खम्भे भी दृढ़ अर्थात् मोटे मोटे रखने चाहिए यह दिखाते हैं । वहाँ खम्भों को देना चाहिए । अब अवशिष्ट हाथोंवाली जमान के विषय में विधि कहते हैं । नेपथ्य गृह और रंगपीठ में प्रवेश इन पदों से यह कहा कि कक्ष्याओं के अनुसार दो दरवाजें बनायें ।

प्रश्न—आप कहते हैं दो द्वार बनाये यहाँ मूल में लिखा है कि द्वारं चैकम् । एक द्वार । तब कैसे संगति होगी । उत्तर । इससे अर्थात् नेपथ्यगृह और रंगपीठ में प्रवेश के लिए जब दो द्वार अपेक्षित है तब यहाँ द्वारं यह एक वचन जाति में है । अस्तु । परन्तु एक पद भी तो दिया है उसकी क्या गति होगी । इस पर कहते हैं कि यहां एक शब्द राशि अर्थात् समूह के अभिप्राय से दिया है । राशि करने का निमित्त है पात्रों के प्रवेश में उपाय बताना । जैसा कि कक्षाध्याय में कहेंगे :—

जो मैंने नेपथ्य घर के दो द्वार पहले बतलाये हैं । उन में भाण्डों को प्रवेश करना है (ना० शा० १३-२) जनता के प्रवेश के लिए नेपथ्य गृह का तीसरा द्वार होना चाहिए । जिस द्वार से नट का परिवार अपनी अपनी भार्याओं के साथ प्रवेश करता है । और भी एक द्वार सामने पर पूर्वदिशा में करना चाहिए । यह द्वारों की आवृत्ति जनता के प्रवेश के लिए है । प्रश्न—यह आभिमुख्य किस की अपेक्षा से लेना चाहिए । उत्तर । कक्ष्या की अपेक्षा से ही पूर्वादि दिशाए कही हैं । जैसा आगे कहेंगे भी—

नेपथ्यघर का भाँडो के प्रवेश के लिए द्वार जिस मुख का होगा । अर्थात् जिस तरफ होगा । उसी को विद्वान् लोग नाटच के निर्माण में पूर्व दिशा समझें । (ना० शा० १३-११)

इस तरह चार द्वारों वाला नाट्यगृह होना चाहिए ।

त्र्यश्रं त्रिकोणं कर्तव्यं नाट्यवेश्म प्रयोक्तृभिः।
मध्ये त्रिकोणमेवास्य रङ्गपीठं तु कारयेत् ॥१०७॥
द्वारं तेनैव कोणेन कर्तव्यं तस्य वेश्मनः।
द्वितीयं चैव कर्तव्यं रङ्गपीठस्य पृष्ठतः ॥१०८॥

अभिनवभारती

अन्ये तु आद्यद्वारद्वयमिद्रत्यादि येन हेतुनाऽन्य द्वारद्वयं पार्श्वस्थितं कुर्यादालोकसिद्धयर्थमिति षड्द्वारं नाट्यगृहमाचक्षते। अथ रङ्गपीठरङ्गशिरसोर्वक्तव्यशेषं निरूपयति—अष्टहस्तन्त्विति। वेदिके शोभायुक्ते कार्ये। पूर्वप्रमाणम्। अध्यर्धहस्तोत्सेधत्वम्। समुन्नतमिति। रङ्गपीठापेक्षया। एतच्चेह प्रसङ्गात्सूचयन् विकृष्टे तेनैव प्रकारेण स्तम्भत्रय्यधिका कर्तव्या। अन्तरमप्यत्रैव दर्शितम्। (९५-१०६)

अथ त्र्यश्रस्यातिदेशद्वारेण लक्षणं कर्तुमुपक्रममाह—त्र्यश्रमिति। त्रिकोणमिति लक्षणम्। उभयानुग्रहाच्च विकृष्टचतुरश्रमानद्वयमेव भवति। मध्ये च त्रिकोणमेव रङ्गपीठम्। तथैव रङ्गशिरः। नेपथ्यगृहं च। तेनैव कोणेनेति। वारुणीगतेन।

बालक्रीड़ा

(मूल) इस नाटच गृह में त्रिकोण रंगपीठ बनवावे। इसी तरह पात्रों के प्रवेश के लिए तिरछा दूसरा द्वार बनवावे जो रंग पीठ के पीछे की तरफ होगा। यह नाटच गृह के

और लोग तो कहते हैं कि जो दो दूसरे द्वार जिस हेतु से बनाये हैं उसीतरह उसी आद्य हेतु के अनुसार और भी दो द्वार देखने की सुविधा के लिए बनावें। इस तरह छ द्वारवाला नाट्यगृह है। अब रंगपीठ और रगशिर की विशेषताओं को बतलाते हैं कि आठ हाथवाला तो रंगपीठ होना चाहिए। और वेदियों को सुन्दर बनाये। पूर्व कहा हुआ प्रमाण है। १॥ हाथ ऊँचा। किन्तु रंगपीठ की अपेक्षा ऊँचा होना चाहिए। इस बात को प्रसंग से सूचित करते हुए कहते हैं कि उसी प्रकार विकृष्ट मण्डप में तीन खम्भे अधिक बनाये। और इन खम्भों का अन्तर भी यहाँ दिखा दिया है। ९४।१०६।

अब अतिदेश के द्वारा त्र्यश्र मण्डप का लक्षण करने का उपक्रम करते हैं। अर्थात् जो विधियाँ ईंट, खम्भे, दिवाल तथा द्वारों के विषय में विकृष्ट एवं चतुरश्र की बतलाई गई हैं उन्हीं सब विधियों का अतिदेश त्र्यश्र में समझना होगा। त्रिकोण यह लक्षण है। दोनों का सम्बन्ध है अतः विकृष्ट एवं चतुरश्र दोनों का मान होगा। मध्य में त्रिकोण रंगपीठ होगा। उसीतरह रंगशिर एवं नेपथ्य। वारुणी पश्चिम दिशा के उसी कोने से जनता का प्रवेश द्वार होगा जिससे उसी कोनें में दो द्वार बनायें। संगति दिखलाते हैं कि इस विधि से बहुत से नाट्यमण्डप बनाय जा सकते हैं यह नहीं है कि पहले जो अठारह प्रकार के नाट्यमण्डप बतलाये जाते हैं उन्हीं के निर्माण के लिए यह विधि है। बुध माने ऊह एवं अपोह के जानकार। पुनः शब्द का अर्थ है कि यद्यपि पहले कहे हुए सभी शुभद हैं फिर भी इनकी पूजा को कहूँगा। वहाँ पूजा का विधान नहीं कहा है अतः कहते हैं कि

विधिर्यश्चतुरश्रस्य भित्तिस्तम्भसमाश्रयः ।
स तु सर्वः प्रयोक्तव्यस्त्र्यश्रस्यापि प्रयोक्तृभिः ॥१०९॥
एवमेतेन विधिना कार्या नाट्यगृहा बुधैः ।
पुनरेषां प्रवक्ष्यामि पूजामेवं यथाविधि ॥११०॥

इति भरतीये नाट्यशास्त्रे मण्डपविधानं नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥

अभिनवभारती

द्वारं जनप्रवेशनम् । येन तस्मिन्नेव कोणे द्वारे कर्तव्ये । सङ्गतिं सूचयति—**एवमेतेनेति** । एतेन विधिना बहवो नाट्यमण्डपाः, न तु पूर्वोक्ताष्टादशभेदकलनयेत्यर्थः । बुधैरित्यूहापोहविद्भिः । **पुनरिति** । यद्यपि गदिताः सर्वे शुभदाः । **पूजामिति** । तथापि वक्ष्यामीति पुनश्शब्दार्थः । तत्र हि विधानं नोक्तम् । तदाह—**यथाविधीति** । एषामिति । मण्डपस्था देवताः । अनेनोपचारादुक्ताः । (१०७-११०)

इति श्रीमहामाहेश्वराभिनवगुप्ताचार्यविरचितायामभिनवभारत्यां भरतीय-नाट्यशास्त्रविवृतौ मण्डपाध्यायो द्वितीयः ॥

बालक्रीड़ा

वनाने की विधि मैंने कही । अब शास्त्रानुसार इस नाटच गृह की पूजा का प्रकार कहूँगा १०७॥१०८॥१०९॥११०॥

इस प्रकार भरतके बनाए हुए नाटचशास्त्रमें नाटच मण्डप विधान नामक द्वितीय अध्याय समाप्त हुआ ।

विधि के अनुसार इन मण्डपों का माने मण्डपस्थ देवताओं की पूजा कहूँगा । यह लक्षणा से अर्थ कहा है । १०७-११० ।

(लोचन) नाट्यगृह नाट्यमण्डप, नाट्यशाला, प्रेक्षागृह इत्यादि नामोंसे अभिनयोपयोगी स्थलका व्यवहार होता है ! इसका निर्माण तीन प्रकार से होता है । एक बहुत बड़ा विकृष्ट, दूसरा मध्यश्रेणी का चतुरश्र एवं तीसरा अतिछोटा त्र्यश्र । बहुत बड़े में पात्रों एवं दर्शकोंके बीचमें काफी दूरी होनेसे दृश्यका सौन्दर्य नहीं आता है । शब्द सुस्वरता से सुनाई नहीं पड़ता है । जो प्रेक्षा की प्रधान एवं आवश्यक वस्तु है । जिससे उद्देश्य की सिद्धि हो वह व्यापार प्रशस्त होता है । और जो विधि जो लक्षण और जो मण्डप विकृष्ट में होते हैं वे सब चतुरश्र में निहित रहते हैं । त्रश्र तिकोना होता है और छोटा भी होता है । अत्यन्त संकीर्ण होने से दृश्य की सुन्दरता का अनुभव नहीं होता है अतः वह भी त्याज्य है तस्मात् चतुरश्र प्रशस्त माना गया है ।

इसके लिए भूमि समतल, स्थिरा एवं कठिना होनी चाहिए । पोली जमीन नहीं होना चाहिए । अथच लचकने वाली नहीं हौनी चाहिए ।

६४ हाथ लम्बाई चौड़ाई विहित है । इसमें १६-१६ हाथ के चार टुकड़े की कल्पना करे । जिसमें एक में रंग शीर्ष बनावे जहाँ परदे वगैरह खड़े किए जायँगे । जहाँ पात्र आकर

वैठे या खड़े होवें। उसके बाद के हिस्से में रंग पीठ या रंग स्थली बनावे। जहाँ अभिनय का स्वरूप अभिलक्षित होवे।

जिसमें पात्रों को अभिनय करने का अवकाश रहेगा। एक हिस्से में नेपथ्य गृह बनाया जाय। जहाँ पात्रों का स्वरूप निर्माण होगा। और एक हिस्से में मत्तवारणी बनावे। जिसमें आठ खम्भों की व्यवस्था होनी चाहिए। खम्भों की परिधिका निर्माण ऐसा होना चाहिए जहाँ भिन्न २ जातियाँ ब्राह्मणादि तथा भिन्न २ श्रेणियाँ सुनार लुहार, सर्राफ, जोहरी एवं अन्य विद्योपजीवी, तथा सैनिक एवं उनके संचालक नेता तथा संकर जातियों के बैठनेकी सुव्यवस्था हो सके। इन खंभों में श्वेत, रक्त, पीत, नील वर्णो द्वारा उन जातियाँ तथा श्रेणियों की स्थिति का सूचन होना चाहिए। शुभमुहूर्त, अनुकूल तिथि, नक्षत्र एवं करण में इसके निर्माण का आरम्भ होना चाहिए। स्वस्तिक, पुण्याहवाचन, देव पूजन, ब्राह्मण भोजन एवं शिल्पकारों का सत्कार इसकी मुख्य विधियाँ हैं। और इन खम्भों की विधि में दिशाओं का विभाग आवश्यक है। पूर्व में ब्राह्मणों का, दक्षिण दिशा में शूद्र एवं संकर जातियों का, पश्चिम में वैश्यों का, तथा उत्तर में क्षत्रियों का स्थितिक्रम माना गया है।

इसमें वायुका संचार बहुत ही अल्प होना चाहिए। शैल गुहा के आकार का इसका द्वार होना चाहिए। पात्रों के आने का द्वार भिन्न और जाने का द्वार भिन्न होना चाहिए और दर्शकों के आवागमन के लिए भिन्न द्वार होना चाहिए। ये द्वार एक दूसरे के सामने नहीं होने चाहिए। परस्पर का संघर्ष तथा पात्रों की भूमिका की गुप्ति के लिए आवरण होना बहुत आवश्यक है।

प्रेक्षागृह के सजाने के लिए सुगन्धित मालाएँ, धूप एवं दीपकी प्रचुर व्ययस्था होनी चाहिए। तथा भिन्न २ स्थानों पर हाथी एवं सिहों की पाषाण, मट्टी या अन्य धातुओं की बनी हुई मूर्तियाँ रखनी चाहिए। और खम्भों पर नाना प्रकारके स्वरूपों में आकर्षक स्त्रियों और पुत्तलियों का चित्र खुदवा देना चाहिए। और अच्छे २ देवताओं, ऋषियों, राजाओं, महान् पुरुषों तथा गन्धर्वादि के चित्र लटकाने चाहिए। दिवालों पर बहुत सुन्दर चित्रों का निर्माण करवाना चाहिए। चारों तरफ बन्दन मालाएँ बाँधनी चाहिए।

शिष्टाचार के प्रवर्तक एवं उद्बोधक वाक्यों का उल्लेख रहे। अशिप्टता एवं अभद्रता के प्रतिरोधक तथा उपदेशों के पूर्णनिर्देशक वाक्य रहे।

नाट्याचार्य के आदेश को ही मुख्य अनुशासन मानना चाहिए।

आचार्य मधुसूदन शास्त्री की बनाई हुई भरत के नाट्यशास्त्र की अभिनव आरती के द्वितीय अध्याय की बालक्रीडा हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई।

———